कर्म रहस्य

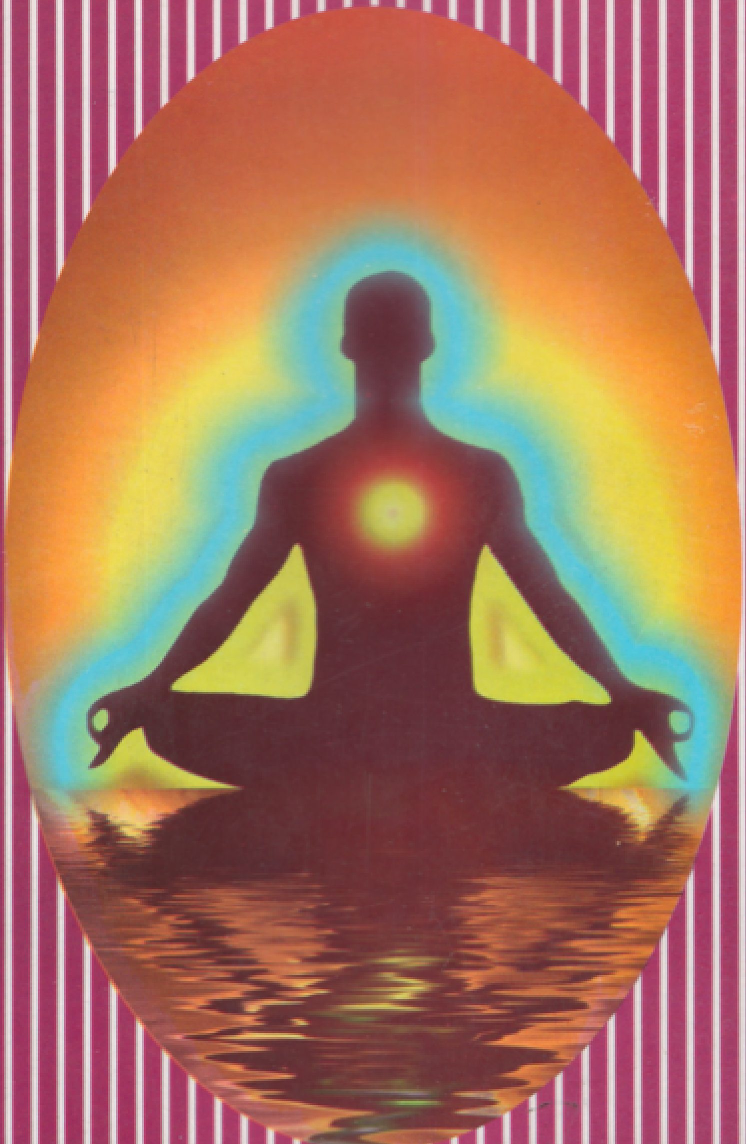

सुदर्शन सिंह 'चक्र'

कर्म रहस्य

लेखक
सुदर्शनसिंह 'चक्र'

प्रज्ञा साधना
(आध्यात्मिक पुस्तक केन्द्र)
ए-3, आर्य नगर, मुरलीपुरा
जयपुर-302039 (राज.)
M 9829547773 8104891536

प्रकाशक :
श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान

प्रकाशक :

श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवा-संस्थान

मथुरा २८१००१

आवृति :

प्रथम : १९७६ ई०—२,००० प्रतियाँ

द्वितीय : १९७९ ई०—३,००० प्रतियाँ

तृतीय : १९९० ई०—१,१०० प्रतियाँ

चतुर्थ : १९९८ ई०—३,००० प्रतियाँ

पंचम : २०१५ ई०-२,००० प्रतियाँ

मूल्य : १००/- (सौ रुपये) मात्र

वर्ण संयोजन :

प्रभा कम्प्यूटर ग्राफिक्स, मथुरा

फोन. ९८९७६०९८३०

मुद्रक :

गोविन्द प्रिंटिंग प्रेस

कोतवाली रोड, मथुरा

फोन : ९८३७४००६९४

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ सं.
१.	दो शब्द	४
२.	हमारा कर्मवाद	५
३.	पुनर्जन्मवाद	२४
४.	अधर्म जो धर्म जान पड़ता है	४९
५.	धर्म-अधर्म के हिस्सेदार	५२
६.	कर्मयोनि और भोगयोनियाँ	५७
७.	कर्मफल-पद्धति	६१
८.	भगवान्‌का दयालुतापूर्ण न्याय	६८
९.	प्रारब्ध और कर्मस्वातन्त्र्य	७३
१०.	प्रारब्ध परिवर्तित कैसे हो सकता है ?	७८
११.	कर्मभोग एवं कर्मप्रायश्चित्त	८७
१२.	आत्मत्याग-आत्महत्या-स्वेच्छामृत्यु	९३
१३.	परेच्छाभोग एवं अकालमृत्यु	९८
१४.	मरणोत्तर गतियाँ	१०४
१५.	अन्तिम भावके अनुसार गति	१०८
१६.	पुनर्जन्म-पितृलोक-श्राद्ध	११५
१७.	स्वेच्छा-जन्म : भगवदिच्छा-जन्म	१२१
१८.	पुनर्जन्म सम्बन्धी कुछ शंकाओंके समाधान	१२७
१९.	परलोक और मोक्ष	१३५
२०.	भगवान्‌के नित्य-लोक और उन सबकी परस्पर समता	१४५
२१.	अवतार और आजके ये अवतार	१५३
२२.	चेतन-पुरुष और पुरुषोत्तम	१५९
२३.	सिद्धिका तत्व	१६७

—※—

दो शब्द

यदि सृष्टिका मूल-तत्त्व जड़ है तो सृष्टि विकास कर रही है। तब पूर्वजोंसे अबके लोग अधिक सभ्य हैं; किन्तु सृष्टिका मूल चेतन परमात्मा है तो उससे जितनी दूरी बढ़ती जाती है, विकृति और जड़ता बढ़ती जाती है।

डार्विनके विकासवादकी कल्पनाने इस प्रकार मनुष्यके विवेकको आच्छन्न कर लिया कि पुनर्जन्म स्वीकार करके भी लोग उसमें भी विकास मानने लगे। पुनर्जन्म कर्मके अनुसार होता है और मनुष्य उत्तम-अधम दोनों प्रकारके कर्म करता है। उत्तम-कर्म करके वह श्रेष्ठ लोकोंको जाता है; हीन-कर्म करके पशु-पक्षी, या वृक्षादि योनियोंको भी प्राप्त हो सकता है।

एक थियोसोफिस्ट विद्वानने कहा—'मनुष्य मरकर फिर पशु नहीं हो सकता। आमके फलसे आम ही उत्पन्न होगा, बबूल नहीं।'

मैंने उनसे कहा-'मनुष्यकी सन्तान मनुष्य ही होगा, गाय या बन्दर नहीं; किन्तु आप क्या यह कहना चाहते हैं कि आमका वृक्ष टूटकर गिर जाय, सड़ जाय तो उसपर बबूल उग ही नहीं सकता?'

जीव मनुष्य या पशु नहीं है। वह स्त्री या पुरुष भी नहीं है। अतः शरीरकी सन्तति परम्परा शरीरके अनुसार होगी; किन्तु जीवका पुनर्जन्म उसके कर्मके अनुसार कहीं भी, किसी भी योनिमें हो सकता है।

कर्मके फलका तत्त्व बहुत गहन है। पुण्यकर्ममें लगा व्यक्ति निर्धन, रोगी, दुःखी देखा जा सकता है और पापमें लगा इसके विपरीत।

कर्म फल कैसे देता है? पुरुषार्थ और प्रारब्धमें से कौन बलवान है? जब मृत्यु प्रारब्धानुसार ही होती है तो अकाल-मृत्यु क्या? इस प्रकारके बहुतसे प्रश्न लोकमानसमें कर्मके सम्बन्धमें उठते हैं।

कर्मका फल बीज-वृक्ष न्याससे होता है। यह सूत्र दे दिया है शास्त्रने; किन्तु बिना व्याख्या के यह सूत्र क्या समझमें आता है?

मैंने 'कल्याण' (गोरखपुर) के 'परलोक पुनर्जन्म' अंकके लिए कुछ लेख लिखे, उनमें प्रयत्न किया कि सर्व-सामान्यको सरल ढंगसे कर्मके फलोदय सम्बन्धी शास्त्रीय सिद्धान्त समझा दिया जाय। कुछ लेख उनमें-से उस विशेषांकमें गये। कुछ स्थानाभावसे नहीं जा सके तो 'विवेक रश्मि' मासिक (परमार्थ आश्रम, हरिद्वार) में मैंने क्रमशः दे दिये।

कई मित्र चाहते थे कि इन लेखोंको पुस्तकाकार प्रकाशित किया जाय। अतः मैंने इनको एकत्र कर दिया है।

सुदर्शनसिंह 'चक्र'

हमारा कर्मवाद

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥

(गीता १८/१४-१५)

'अधिष्ठान-आधार, कर्ता, क्रियाके विभिन्न साधन, क्रियाकी अनेक चेष्टाएँ और प्रारब्ध—ये पाँच मनुष्यके शरीर, वाणी या मनसे प्रारम्भ हुए समस्त कर्मोंके, चाहे वे उचित हों या अनुचित- कारण होते हैं।'

हम बैठे हैं! किन्तु बैठेंगे किसी वस्तुपर। यदि आसन मृदुल है तो अधिक समय तक सुखपूर्वक बैठ सकेंगे और आसन कठोर एवं विषम है तो शीघ्र उठना होगा। इसके अतिरिक्त जिस चौकी या स्थानपर हम बैठे हैं, उसके परमाणु हममें सम्मिलित हो रहे हैं और हमारे उसमें। यदि वहाँ पूर्वकालमें कोई शुभ कार्य हुआ है तो उसके शुभ परमाणु हमारे मानसमें संचरित होंगे और कोई घोर कर्म हुआ है तो घोर-संस्कार मानसमें संचार करेंगे। उपासना-स्थान एवं शान्त देवालयमें शयन करनेपर मन शान्त रहेगा और किसी वध-शालामें शयन करनेपर घोर दुःस्वप्न दिखाई पड़ेंगे। प्रत्येक पदार्थ सहस्र-सहस्र परमाणु प्रतिक्षण अपनेसे बाहर करता और प्रतिक्षण ग्रहण करता है। हमारा पूरा शरीर इस क्रमसे साढ़े तीन वर्षमें बदल जाता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ विनिमय करता है उससे, जिसके संसर्गमें वह आता है। तीर्थादि शुभ स्थलोंका, शुभ वृक्षों एवं पदार्थों का हमारी मानसिक क्रियाओंपर बहुत प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार कर्मके संम्पन्न या असम्पन्न होनेमें मुख्य भाग अधिष्ठानका है। भवनकी स्थिति उस भूमिपर निर्भर है, जहाँ वह बनाया गया है।

आधारके पश्चात् कर्मका स्वरूप बनता है कर्ताके अनुसार। कर्ताका कर्ममें मनोयोग है या नहीं? वह उसे पूरे उत्साह एवं लगनसे करता है या बेमनसे, अथवा उससे बलपूर्वक वह कार्य कराया जा रहा है? इसके अतिरिक्त जो कार्य हो रहा है, उसके सम्बन्धमें कर्ताका ज्ञान कितना है? वह यदि उसके सम्यक् विधानको जानता हो, तभी कार्य सर्वांगीणपूर्ण होगा। साथ ही उस कर्ममें कर्ताका उद्देश्य

भी कर्मके स्वरूपको प्रभावित करता है। कर्ताका मनोयोग, उसकी तत्सम्बन्धी योग्यता एवं उद्देश्यके ऊपर क्रियाका स्वरूप तथा उसकी पूर्णता निर्भर करती है।

कर्मके अनेक कारण होते हैं। उपकरणोंके अनुसार ही क्रिया सम्पन्न होती है। हमें एक काष्ठ-मञ्च बनाना है। काष्ठ अच्छा है, बनाना चाहते हैं और जानते भी हैं; किंतु बसुला आदि यदि न हों तो क्रिया न होगी। होनेपर भी तीक्ष्ण न हों तो मञ्च सुचिक्कण न बन सकेगा। हम शान्तिपूर्वक ध्यान करना चाहते हैं तो शरीर स्वस्थ होना चाहिए और स्थान निरुपद्रव। सिरमें दर्द होता हो या मच्छर काटते हों तो ध्यान सरल न होगा। इसी प्रकार भोजनके समय कोई घृणास्पद वस्तु दृष्टि पड़नेसे भोजनमें अरुचि हो जायेगी। सभी उपकरण क्रियाको प्रभावित करते हैं और उसकी पूर्णता एवं अपूर्णतामें कारण होते हैं।

अधिष्ठान, कर्ता एवं उपकरणके पश्चात् अनेक चेष्टाएँ भी कर्मको संचालित करती हैं खेतीके सभी साधन एकत्र हुए और पौधे अच्छे उगे; परंतु वृष्टि नहीं हुई अथवा पूर्णतः संरक्षण रहते भी किसीके पशुने उसे चर डाला। इस प्रकार विश्वमें समष्टि एवं व्यष्टिकी अनेक क्रियाएँ होती रहती हैं, जिनसे उनके सन्निध्यमें आनेवाले कर्म प्रभावित होते हैं। हम एक व्यक्तिसे मैत्री करना चाहते हैं, प्रयत्न करते हैं; किंतु कोई उसकी ऐसी निन्दा कर देता है कि मन खिन्न हो जाता है। इस प्रकार अनपेक्षित अनेक चेष्टाएँ कर्मको प्रभावित किया करती हैं।

इन स्थूल कारणोंके अतिरिक्त पाँचवाँ कारण भाग्य है। सब प्रकारसे अनुकूल कर्म होनेपर भी कभी-कभी प्रारब्धके कारण अभीष्ट फल प्राप्त नहीं होता। ऐसा भी देखा गया है कि विपरीत स्थितिमें अयोग्य व्यक्ति प्रमाद-पूर्ण क्रियासे भी अद्भुत फल पा जाते हैं। फलके अतिरिक्त ऐसे भी होते हैं, जिन्हें हमने करनेका विचार तक नहीं किया और हमारे द्वारा अकस्मात् हो गये। ऐसे ही कर्मोंके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है-

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

(गीता १८/६०)

कोई भी क्रिया-वह चाहे शारीरिक हो, वाचिक हो या मानसिक हो-उक्त पाँचों कारणोंसे प्रभावित होती है। उसकी सम्पन्नता एवं असम्पन्नता पाँचोंके

सामञ्जस्य एवं वेषम्यके तारतम्यपर निर्भर है। अतः कर्ममें कर्ताका अहंभाव मिथ्या है। वह अकेला किसी भी क्रियाको करनेमें असमर्थ है। यदि वह अपने अहंकार आश्रयण न करे तो क्रियाके शुभाशुभ फलसे वह लिप्त नहीं होता।

एक यन्त्र के सम्मुख कोई गायक गान करता है। उसके गानके कम्पन एक विशेष पदार्थपर अंकित होते जाते हैं रेखाओंके रूपमें। जब चाहे जब उन अंकित कम्पनोंको यन्त्र पर चढ़ा देनेसे उसी गायककी कण्ठ-ध्वनिमें उन्हीं वाद्यों एवं लयोंके साथ वह गान पुनः व्यक्त हो जायेगा। बिना किसी अन्तरके हम उस गानको पुनः सुन सकेंगे।

एक स्थानपर दृश्य सज्जितकर दिये जाते हैं और अभिनेता अपना अभिनय करते हैं वहाँ। यन्त्र उन आकृतियों, स्वरों एवं क्रियाओंको अंकित करता जाता है। अब उस अंकित दृश्यके द्वारा आप चाहे जहाँ पटपर उन्हीं दृश्यों, क्रियाओं तथा स्वरोंको मूर्तरूप दे सकते हैं। वे अंकितरूप पुनः व्यक्त होनेमें समर्थ हो गये, यद्यपि उनका अंकन रेखाओंमें ही था। अब तो यह भी समझा जाता है कि गन्धका अंकन भी रूप एवं शब्दके समान किया जा सकता है और चित्रपटपर के दृश्योंकी गन्धानुभूति भी दर्शकोंको करायी जा सकेगी।

कर्म, उनके संस्कार और संस्कारोंका पुनः कर्मके रूपमें प्राकट्य। यही क्रिया ग्रामोफोनमें होती है और यही होती है चित्रपटपर। स्मरण रखनेकी बात है कि कर्म तो स्थानबाहुल्य चाहते हैं, किन्तु संस्कार बहुत अल्प स्थानमें कर्मोंको अपने अन्तर्गत कर लेते हैं और समस्त व्यक्ति वैभिन्न केवल ऊँची-नीची, टेढ़ी-सीधी रेखाओंमें अंकित हो जाता है। शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श-सम्पूर्ण व्यक्त विश्व इनके ही अन्तर्गत है। इनमें-से शब्द एवं रूपका रेखांकन तो अब मानव कर लेता है और गन्धके अंकनमें वह प्रगति कर रहा है, परन्तु रस एवं स्पर्शका अंकन उसकी शक्तिसे अभी बाहर है। एक बात और-स्रष्टाके अंकन कहीं अधिक सूक्ष्म एवं स्पष्ट हैं। वे कर्मको पुनः ज्यों-का-त्यों उद्भूत कर देते हैं, किन्तु मनुष्यका अंकन वास्तविकताकी छायामात्र ही दे पाता है।

जो भी हो, हम इस निश्चयपर पहुँचते हैं, कि विश्वका सम्पूर्ण रूप एवं उसका क्रिया-कलाप रेखाओंमें अंकित हो सकता है। संस्कार रेखात्मक हैं। इन्हीं रेखाओंसे पुनः विश्व एवं उसकी क्रियाओंका अभिव्यञ्जन होता है। अब तो

विचारोंके रंग एवं उनके रूप या रेखाओंका चित्रण भी शक्य हो गया है और क्रोध, दया प्रभृतिके रंग तथा उनसे बनने वाली रेखाकृतिका मनोवैज्ञानिक स्पष्ट वर्णन करनेमें भी हम समर्थ हो गये हैं। अतः अब इसे स्वीकार करनेमें कोई बाधा नहीं रही है कि स्थूल क्रियाओंकी भाँति मानसिक क्रियाओंका भी रेखांकन सम्भव है।

हमारे कर्मों तथा हम जिन कर्म या पदार्थोंके सम्पर्कमें आते हैं, उनका संस्कार हमारे चित्तपर पड़ता है। जहाँ हमारा जितना मनोयोग होता है, चित्तका रेखांकन भी वहां उतना ही स्पष्ट होता है। हमारे समीप चाहे जो होता रहे; यदि हमारा तनिक भी ध्यान उधर नहीं गया है तो हमारे चित्तपर उसका कोई संस्कार नहीं पड़ता। गाढ निद्रामें हमारा मनोयोग कहीं नहीं होता, अतः हमारे हृदयपर उस समयका कोई संस्कार अंकित नहीं होता।

चित्तपर पड़े हुए इन संस्कारोंके भी दो रूप होते हैं—एक तो कर्म-रूप और दूसरा स्मृतिरूप। हम अनेक वस्तुएँ देखते हैं—पर्वत, सरिता, सागर, पुष्प, वृक्षादि। इस प्रकारके दर्शनके संस्कार स्मृतिरूप होते हैं। अध्ययनके भी अधिकांश संस्कार इसी प्रकारके होते हैं। जिन संस्कारोंको हम केवल अच्छा या बुरा मानकर ग्रहण करते हैं, जिनमें हमारा 'अहम्' या 'त्वम्' भाव नहीं है, वे संस्कार स्मृतिरूप हैं। वे केवल ज्ञानोत्पादक हैं। उनसे उस श्रेणीकी विज्ञता प्राप्त होती है, जिस प्रकार वे हैं। किन्तु जिन संस्कारोंमें हमारा कर्तृत्व-अहंकार रहा है, वे संस्कार कर्मरूप होते हैं। वे हमारे अन्तःकरणके अंग बन जाते हैं और जन्म-जन्मान्तर तक हमारे साथ रहते हैं। स्मृतिरूप संस्कार बहुधा नष्ट होते रहते हैं और स्मृतिकी एक सीमा है। मस्तिष्कके विकासके अनुसार यह सीमा न्यूनाधिक हुआ करती है। जब हम बहुत अधिक रटने लगते हैं तो एक सीमापर पहुँचकर भूलते जाते हैं। केवल वही स्मृति सुदृढ़ होती है, जिसे मनने गाढ़ रागात्मिका या द्वेषात्मिका वृत्तिसे ग्रहण किया हो। अहंभावसे गृहीत संस्कार विस्मृतिके गर्भमें जाकर भी मिटते नहीं। वे अन्तर्मनमें सञ्चित रहते हैं।

शास्त्रकारोंने चित्तकी उपमा द्रवणशील पदार्थसे दी है। हम जिन पदार्थ या भावोंको ग्रहण करते हैं और जिनमें हमारा 'अहम्' राग या द्वेष-बुद्धिसे युक्त होता है, चित्तपर उसका रेखांकन हो जाता है। अहंकी उष्णता चित्तके एकांशको द्रवित करती है और उस समय अहं जिसके सान्निध्यको उपस्थित करता है, चित्त तदाकार होकर उसे ग्रहण कर लेता है। चित्तपर उस विषयकी रेखाएँ अंकित हो

जाती हैं। यह अंकन वहाँ स्थायी रूपसे पड़ा रहता है और वही जीवके सहस्र-सहस्र प्रारब्धोंका निर्माण करता है।

स्रष्टाका यह अंकन-क्रम अद्भुत है। आपके चित्तपर एक संस्कार पड़ा। जन्मान्तरमें जब वह क्रिया रूपसे प्रकट होगा तो मिट जायेगा। अन्तर्मनके संस्कार बाहर आनेका प्रयत्न करते रहते हैं। मनोवैज्ञानिक जानते हैं कि कई बार कई मानसिक रोगोंका कारण अवरुद्ध प्रबल संस्कार होते हैं, जो व्यक्त होना चाहते हैं; और रोगीको जब स्वयं कथन-प्रणालीसे उसे व्यक्त करनेका अवकाश दिया जाता है, वह स्वस्थ हो जाता है। रिकार्ड या छाया-चित्रोंके समान चित्तका संस्कारांकन स्थायी नहीं। एक संस्कार फल प्रकट करके समाप्त हो जाता है; किन्तु जब वह क्रियाके रूपमें व्यक्त होता है, हम उसमें पुनः अहंकार कर लेते हैं और फल यह होता है कि पूर्वके समान ही नवीन अंकन पुनः हो जाता है, जो पुनः क्रियाके रूपमें व्यक्त होने तक बना रहेगा। यही क्रम बराबर चला करता है। यदि कोई कर्तृत्वके अहंकारसे रहित होकर कर्म करे तो ये संस्कार क्रियाके रूपमें व्यक्त होकर समाप्त हो जायेंगे।

चित्तपर संस्कारोंका यह अंकन-क्रम चलता रहता है। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि हमने बचपनमें जो कुछ किया या सोचा था, उसे हम भूलते जा रहे हैं। इसका अर्थ है कि नवीनतम अंकन स्मृति पटपर अत्यन्त स्पष्ट रहते हैं और प्राचीन अंकन धुंधले होते जाते हैं। चित्तको एक गोदामके समान कहा जा सकता है। उसमें अच्छे-बुरे सभी संग्रह हैं। हमें वही संग्रह बार-बार प्रभावित करेगा और हमारे सम्मुख पड़ेगा, जो द्वारके सम्मुख होगा। अतः हमें चित्तमें जैसे संस्कारोंका उद्भव अभीष्ट हो, वैसे ही कर्म करने चाहिए। वैसे ही संगमें रहना चाहिए। उसी प्रकारके साहित्यका पठन-पाठन करना चाहिए। उसी प्रकारकी बातें सोचनी चाहिए। इसका परिणाम यह होगा कि हमारे नवीन कर्मोंके संस्कार सम्मुख होंगे और वही बराबर हमारे सम्मुख आते रहेंगे।

शास्त्रोंने केवल मनुष्ययोनिको कर्मयोनि बताया है। इसका यह अर्थ हुआ कि कर्तृत्वका अभिमान केवल मनुष्यमें होता है। अतएव उसके कर्मोंके संस्कार उसके चित्तपर अंकित हुआ करते हैं। पशु, पक्षी प्रभृति मनुष्येतर प्राणी केवल अपनी स्वाभाविक प्रेरणासे चेष्टा करते हैं, अतः उनके चित्त-कर्मात्मक संस्कारोंका अंकन नहीं होता। इसीसे अपने कर्मोंका उन्हें जन्मान्तरमें फल नहीं भोगना पड़ता। वैसे उनके हृदयपर भी स्मृतिरूप संस्कार अंकित होते हैं। वे

अपने हितैषी एवं शत्रुको पहचान सकते हैं और अनेक कार्य पूर्वापर विचारयुक्त कर सकते हैं। अनेक पालतू पशुओंमें पर्याप्त बुद्धि पायी जाती है। इतना होनेपर भी अपने कार्योंकी प्रेरणा वे भय-लोभादि तात्कालिक वृत्तियोंसे ही प्राप्त करते हैं। कर्तृत्वाभिमानकी दृढ़ भावना उनमें नहीं होती। फलतः उनके हृदयके संस्कार केवल स्मृतिरूप होते हैं और स्मृतिरूप संस्कार फलोत्पादक नहीं हुआ करते।'

स्मृतिरूप संस्कार भी इसी जन्ममें विस्मृत हो जाएँ, यह आवश्यक नहीं है। अनेक बालकोंमें पूर्वजन्मकी स्मृति देखी गयी है। योगी अपने पूर्वजन्मको पूर्णतः स्मरण कर सकता है। सच्ची बात तो यह है कि विश्वमें कुछ भी नाश नहीं होता। महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा है—

शतेन स्थिरतां याति सहस्रेण च तिष्ठति।
एवं शतसहस्रेण इहलोके परत्र च॥

'कोई भी ग्रन्थ, नाम या मन्त्र सौ आवृत्ति करनेसे याद हो जाता है। सहस्र आवृत्ति कर लेनेपर जीवनमें उसके विस्मृत होनेका भय नहीं रहता और एक लक्ष आवृत्ति कर लेनेपर मृत्युके पश्चात् भी वह स्मृतिमें स्पष्ट रहता है।' इस प्रकार स्मृतिके संस्कार भी नाश नहीं होते। केवल वे फलोत्पादक न होनेसे बन्धनके कारण नहीं होते।

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

(गीता १८/१७)

'जिसमें कर्तृत्वाभिमान नहीं है और जिसकी बुद्धि कर्मोंसे उपलिप्त नहीं होती, यदि वह तीनों लोकोंको मार डाले, तो भी उसने न तो हत्या की है और न उसके कर्मोंसे उसे बन्धनकी प्राप्ति ही होती है।'

कर्म के चार अंग हैं—कर्म करनेकी इच्छा, क्रिया, क्रियाका परिणाम और क्रियामें अहंभाव। पहले किसी भी कर्ममें करनेकी इच्छा होती है-यह आवश्यक नहीं कि इच्छा कार्यरूपमें परिणत हो ही। अधिकांश इच्छाएँ कार्य नहीं बना करतीं। इच्छा होती है संस्कारके कारण और संस्कार होते हैं पूर्वकृत कर्मोंके कारण। संस्कार मनुष्यमें केवल इच्छा उत्पन्न कर सकते हैं। इच्छाओंपर विजय पाना मनुष्यके वशमें होता है और इसीसे मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र माना गया है। उदाहरणके लिए एक शराबी है। दीर्घकाल तक सुरापानका अभ्यास

बार-बार उसको शराब पीनेकी ओर प्रेरित करता है। वह अनुभव करता है कि अब वह सुरापानके लिए विवश हो गया है। इतना होनेपर भी उसका प्रबल संकल्प एवं प्रयास सुरापानपर विजय पा सकता है और इसीलिए सुरापानमें वह स्वतन्त्र ही माना जायेगा। प्राक्तन कर्मके प्रबल संस्कार मनमें तदनुकूल प्रबल उत्पन्न करेंगे; किन्तु मनुष्य फिर भी स्वतन्त्र है उसे दमित या सार्थक करनेमें। संस्कार बुद्धिको पराभूत नहीं करते, यदि मानव अपने विवेकको स्वयं शिथिल न कर दे। जिसने एक प्रकारका अभ्यास किया है, वह उसका विरोधी अभ्यास भी कर सकता है। इस प्रकार मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। वह पुरुषार्थ कर सकता है। केवल फल भोगनेमें वह प्रारब्ध परतन्त्र है।

वस्तुतथ्य तो यह है कि अनन्तमें विचारोंकी स्थायी स्तरें हैं, जिस प्रकार रेडियोकी स्तरें होती हैं। मन जिस स्तरमें होता है, उसीके विचारोंको ग्रहण कर लेता है। समष्टिका सम्पूर्ण संचालन सर्वेशकी इच्छाके अनुरूप ही होता है। ज्योतिषकी भविष्य-वाणियाँ इसीलिए सत्य होती हैं और कोई भी त्रिकालज्ञ इसीलिए हो सकता है कि त्रिकालका सम्पूर्ण रूप सुनिश्चित हैं। यदि विचार एवं क्रियाएँ अनिश्चित हों तो सर्वज्ञ कोई हो नहीं सकता। अनिश्चितका पूर्वज्ञान सम्भव नहीं। अतः क्रिया एवं विचारोंका संचालन तो समष्टि-संचालककी ओरसे होता है।

तब शास्त्रोंके आदेशोंका क्या उपयोग तथा मनुष्यके पुरुषार्थका क्या प्रयोजन- ये दो प्रश्न उठते हैं। क्योंकि विश्वमें तो उस सर्वेशकी इच्छाके बिना एक पत्ता भी हिलता नहीं। विचारके स्तर हैं और मन जिस विचार-स्तरमें होगा, उसके विचार मनमें उद्भूत होंगे। व्यक्तिके क्रिया-स्वातन्त्र्यके सम्बन्धमें भी भगवान् कहते ही हैं—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥

(गीता १८/५९)

और-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८/६१)

"मैं युद्ध नहीं करूँगा' यह अहंकार एवं मान्यता मिथ्या है। प्रकृति तुम्हें उसके लिए विवश करेगी। अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदय-देशमें रहकर ईश्वर उन्हें यन्त्रपर चढ़ेकी भाँति घुमा रहे हैं।"

'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' से भगवान्‌ने इसका स्पष्ट उत्तर दे दिया है। सम्पूर्ण नियम एवं नियन्त्रण जड़के लिए हैं। चेतन नियन्त्रणकी सीमासे परे है। मन केवल विचारोंको ही ग्रहण करता है; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह अमुक विचारोंको ही ग्रहण करेगा। मनुष्यका पुरुषार्थ निरहंकार-स्थितिकी प्राप्तिमें है। मन यदि सात्त्विक विचार-स्तरोंमें रहेगा तो उसमें सात्त्विक विचारोंका ही सञ्चार होगा; फलतः वह निर्मल होगा और तब अहंकारहीन स्थिति प्राप्त होगी। इस प्रकार सत्कार्योंके करनेका प्रयास एवं सद्विचार भी व्यर्थ नहीं हैं। बुद्धिको शुद्ध एवं निर्लिप्त रहना चाहिए। समष्टि एवं व्यष्टि का वही सम्बन्ध है, जो शरीर और उसके अंगोंका है। यह ठीक है कि शरीरका अधिष्ठाता सब अंगोंका अधिपति है और उसीकी इच्छासे अंगोंके कार्य सम्पन्न होते हैं; किन्तु शरीरके अधिष्ठाताकी प्रतिकूलता किये बिना एक सीमा तक अंगोंकी स्वतन्त्र सत्ता है और यही उनका महत्त्व है। व्यष्टिको समष्टिकी इच्छाकी परिधिमें स्वतन्त्र व्यवहारकी क्षमता तो प्राप्त है ही।

विचार या इच्छाके पश्चात् क्रिया होती है और क्रियाका एक परिणाम होता है। एक ही प्रकारकी क्रियाओंके विभिन्न परिणाम देखे जाते हैं। मीमांसाशास्त्र क्रियासे क्रियाफलको स्वतन्त्र मानता है। क्रिया केवल निमित्तकारण है क्रियाफलकी। परिणामका मूल कारण प्रारब्ध है, जिसे आप पूर्वकृत क्रिया कह सकते हैं। जैसे आपके मनमें आघात करनेकी इच्छा हुई और आपने एक व्यक्तिको लाठी मार दी। इससे उसका सिर फट गया। यहाँ लाठी मारनेकी इच्छा और उसके परिणाम लाठी मारनेसे सिर फटनेका कोई सम्बन्ध नहीं है। लाठी उसे नहीं भी लग सकती थी और लगकर भी सिर नहीं फट सकता था। सिर फटा' उसके प्रारब्धके अनुसार। उसके पूर्वकृत कर्मने यह परिपाक प्रकट किया।'

'हानि लाभ जीवन मरन जस अपजस बिधि हाथ।'

उपर्युक्त छः बातें प्रारब्धवशात् होती हैं। ये क्रियाके वर्तमान स्वरूपके कारण हुई, यह भ्रान्त धारणा है। क्रिया और उसके परिणाममें 'अहं' भाव कर्ताको उसके द्वारा लिप्त करता है। 'मैंने लाठी मारी' या 'मैंने सिर फोड़ दिया'

ये संस्कार लाठी मारनेवालेके मनको कलुषित करते हैं। वह इस क्रियासे संश्लिष्ट होता है और उसके पाप या पुण्यका भागी होता है।

मन एक विचार-स्तर में पहुँचा; उचित तो यह था कि क्रोधका भाव आते ही मनको वहाँसे पृथक् करनेका प्रयत्न होता। क्रोधको दूर हटानेका प्रयत्न पूर्णतः करनेपर भी यदि सफलता नहीं हुई और आघात हो गया तो वह समष्टि-सञ्चालककी इच्छा थी। आघातका परिणाम तो प्रारब्धके अनुसार प्रकट हुआ। यहाँ कर्तृत्वका अभिमान क्ररके पाप-पुण्यका भागी बनता है कर्ता। स्मरण रखना चाहिए कि पाप होते हैं शरीरासक्तिसे। वे अहंकारसमन्वित ही होते हैं। जो समष्टि-चालककी इच्छापर निर्भर रहने लगेगा, उसके द्वारा पाप नहीं हो सकते। यदि पाप हुआ है तो समझना चाहिए कि कर्तृत्वका अभिमान भी है तथा उसे निवृत्त करनेका प्रयास भी करना चाहिए।

अहंभावके दो रूप हैं— रागात्मक एवं द्वेषात्मक और दोनों रूपोंसे वह संस्कारोंका संग्रह करता है। हम जिन्हें चाहते हैं, उनके संस्कारों को भी ग्रहण करते हैं और जिनसे घृणा करते हैं उनके संस्कारोंको भी। निरपेक्ष-भावमें ही संस्कारोंका ग्रहण नहीं होता। जिन कर्मोंमें इस प्रकार हमारा अहंभाव है, उनके शुभाशुभ संस्कार अपना फल प्रकट करनेके लिए चित्तमें सञ्चित होते रहते हैं। इस प्रकारके जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित कोषको ही सञ्चित कहते हैं। जो नवीन कर्म मनुष्य करता है, उसके संस्कार क्रियमाण कहे जाते हैं और वे सञ्चितमें सम्मिलित होते जाते हैं।

हम जिन कर्मोंको अहंभावसे करते हैं, उनके शुभाशुभ संस्कार ग्रहण करते हैं। ये कर्म मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक होते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे कर्मोंके और भी भागीदार होते हैं और दूसरोंके कर्म भी हमें प्राप्त होते हैं। विश्वमें विनिमय चलता है। जिस प्रकार हमारे शरीरके परमाणु समीपस्थोंमें संचरित होते हैं और उनके हममें, उसी प्रकार कर्मोंका भी विनिमय होता है। अवश्य ही कर्मोंकी विनिमय-प्रणालीमें भेद है। स्थूलका विनिमय होता है सामीप्यके कारण और कर्मका विनिमय होता है आसक्ति या द्वेषके कारण। कर्मोंके सहायक, अनुमोदक भी कर्ममें भाग पाते हैं। क्योंकि प्रेरक, अनुमोदक एवं सहायककी उससे सहानुभूति होती है। इसी प्रकार विरोधी, बाधक एवं द्वेषी कर्मनाशक पापमें भाग पाते हैं। एक व्यक्ति तीर्थयात्रा करता है। उसे प्रेरित करनेवाले, मार्गमें सेवा करनेवाले, उसके कार्यका अनुमोदन करनेवाले उसके पुण्यके भागी होते

हैं और विरोधी, हतोत्साह करनेवाले एवं उत्पीडक तीर्थयात्रानाश एवं यात्रामें हुए अराधमें भाग पाते हैं। इसी प्रकार हत्याके समर्थकादि पापमें और उसके बाधक जीव-रक्षाके पुण्यमें भाग पाते हैं क्योंकि सबके सत्-असत् आचार एवं व्यवस्थाका भार राजापर होता है। इसलिए राजा प्रजाके कर्ममें भाग पाता है और सद्गुणी राजाका चुनाव प्रजापर निर्भर है, प्रजाको दुर्गुणी राजा का दमन करना चाहिए—इससे राजाके कर्ममें प्रजा भाग पाती है। इसी प्रकार गुरुपर उत्तरदायित्व है शिष्यको सन्मार्गपर चलानेका, शिष्यने गुरुसे सत्प्रेरणा एवं शक्ति प्राप्त की है; इससे गुरुको शिष्यके कर्मोंका अंश प्राप्त होता है। और शिष्यका कर्त्तव्य है कि वह सद्गुरु चुने; इस कारण तथा इस कारण भी कि गुरुसे उसका मानस सम्पर्क होता है, उसे गुरुके कर्मोंका अंश प्राप्त होता है।

अनुमोदिनादिके अतिरिक्त कर्म-विनिमय होता है आसक्तिके कारण। यह आसक्ति जितनी प्रगाढ़ होती है, उतने ही अधिक कर्मोंका विनिमय होता है। कर्मोंका नाश तो होता नहीं; अतः जब किसी द्वन्द्वातीत मुक्त पुरुषका शरीरपात होता है तो उसके शुभ कर्म सेवकोंको तथा अशुभ द्वेषियोंको अनुराग एवं द्वेषकी मात्राके अनुरूप प्राप्त हो जाते हैं। पतिके कर्म पत्नीको एवं पत्नीके पतिको प्राप्त होते हैं। माता-पिता, पुत्र प्रभृति सबके कर्मोंका विनिमय होता है। मातृ एवं पितृकुलके पितरों तकको कर्मांश प्राप्त होते हैं। ये कर्मांश कर्ताके राग-द्वेषसे ही विनियमित हों, यह आवश्यक नहीं। कर्ताके प्रति दूसरोंका राग-द्वेष भी विनिमयका कारण होता है। इसीसे अनासक्त महापुरुषके प्रादुर्भावसे उसके कई पीढ़ियोंके पितरोंका उद्धार हो जाता है; क्योंकि पितरोंकी तो उसके प्रति आसक्ति होती ही है। प्रत्येक व्यक्तिको अपने कर्मोंको करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने शुभाशुभ कर्मोंके द्वारा कितने जनोंपर प्रभाव डालता है-इस प्रकार उसका उत्तरदायित्व कितना महान् है।

कर्त्ता ही अपने कर्मोंका अधिकांश फलभागी होता है। वैसे कर्मोंका दान भी होता है। संकल्प पूर्वक कर्मफल दिया जा सकता है, यदि दान एवं ग्रहणकी भावना सच्ची हो। कर्मफल क्रीत भी होते हैं। दक्षिणा लेकर दूसरोंके निर्मित्त जप, पाठादि ऐसे ही कर्म है। प्रतिनिधिके द्वारा कराया गया कर्म भी प्रतिनिधिकी अपेक्षा प्रधान पुरुष को ही अधिक प्राप्त होता है। इस प्रकार स्वतः किये हुए कर्म एवं दूसरोंके द्वारा प्राप्त कर्मांशसे मनुष्यके संचित संग्रहालय परिपूर्ण है।

मनुष्य एक क्षणमें इतना बड़ा पुण्य कर लेता है कि उसका फल भोगनेके

लिए सहस्त्रों वर्ष अपर्याप्त हैं और एक पलमें ही इतना बड़ा पाप भी कर सकता है कि उसका दण्ड नरककी कल्पान्त यातना हो। मनुष्य के कर्मों का मूल्य उसके भावसे होता है। कर्म तो जड़ है। वे न शुभ हैं और न अशुभ। वे जिस भावसे किये गये हों, वैसे ही हैं। आपने एक व्यक्तिको इस नीयतसे एक रुपया दिया कि वह अपनी क्षुधा-शांत कर ले तो वह पुण्य हुआ। आपने रुपया इसलिए दिया कि क्षुधा-शान्तिके लिए अधिक सुविधा पानेसे वह आपके पास रहकर सेवा करेगा तो वह व्यापार हुआ; और यदि रुपया देकर उसे उच्छृंखल बनानेकी भावना हो तो पाप होगा। एक व्यक्ति किसी लड़केको द्वेषसे पीटता है और दूसरा शिक्षा देने के लिए। इनमें एक पाप करता है और दूसरा पुण्य। °

इसी प्रकार मनुष्य के कर्मोंका परिणाम भी भाव पर निर्भर करता है। उपेक्षा से दिया गया सहस्त्रोंका दान भी श्रद्धाके कुछ पैसोंके दानकी समता नहीं कर सकता। कर्म-संस्कारोंका महत्व केवल भावसे निर्णीत होता है, भाव के अनुसार ही वे महत् या अल्प माने जाते हैं। अभावमें कष्ट-सहन तप नहीं है, तप तो शक्ति रहते कष्ट सहनेमें हैं; किन्तु तप की भावना कर लेनेपर अभाव-जनित कष्ट भी तप हो जाता है। एकके पास अरबोंका द्रव्य है। उसने दो लक्ष दान कर दिया। एकका सर्वस्व दो पैसा है। उसने दोनों पैंसे दे दिये। निश्चय दो पैसे वालेका दान ही महत्तम है। इसी प्रकार सभी प्रकारके सत्-असत् कर्मों के विषयमें समझना चाहिए।

सञ्चित कर्मराशि तो अनन्त और अपार हैं। यह सम्भव ही नहीं कि उनका दो-चार जीवनमें उपभोगकर लिया जाय। उनमें से एक अंश उपभोग के लिए पृथक होता है और इसी अंश के अनुसार शरीर प्राप्त होता है। इस अंशको प्रारब्ध कहते हैं जब तक यह अंश है, तब तक शरीर रहता है और अंश के शुभाशुभ भोग प्राप्त होते हैं। प्रारब्ध मुक्त पुरुषोंको भी भोगना पड़ता है। यों शास्त्रों ने मुक्तात्माओंकी एक ऐसी स्थिति बतायी है, जिसमें प्रारब्ध भी नष्ट हो जाता है, किन्तु यह है कि अपवाद की ही भाँति। उस स्थिति को सप्तम भूमिका कहते हैं। जब किसी महापुरुषकी स्वरूपावस्थिति तनिक भी विच्युत नहीं होती, एक पलको भी शरीर से तादात्म्यभाव जाग्रत् नहीं होता, अखण्ड-समाधि चलती है, तो इस अवस्था में चेतन के सर्वथा संस्पर्शसे रहित जड़ नष्ट हो जाता है। इस अवस्था के प्रारम्भ होने पर शरीर केवल इक्कीस दिन चलता है और अन्त में गिर जाता है। क्योंकि चेतन के तादात्म्य के बिना जड़ की स्थिति नहीं और एक

बार तादात्म्यकी शक्तिसे जड़ अपनी किसी प्रकार इक्कीस दिन ही अवस्थिति रख सकता है, जैसे अग्नि से उतार लेने पर भी तवा कुछ काल उष्ण रहता है।

प्रारब्ध इस प्रकार संचितसे इस जन्मके लिए पृथक् हुआ भाग है। यह जन्म एवं उसके भोग प्रारब्धके अनुसार हैं। संचित सुषुप्त है। अवश्य ही नये कर्मोंमें-से कुछ यदि अत्यंत प्रबल हों और प्रारब्ध कर्मोंसे उनका सामञ्जस्य सम्भव हो तो वे प्रारब्धमें सम्मिलित होकर इसी जन्ममें फल दे देते हैं। सकाम जप, तप, अनुष्ठानादिका फल इसी जीवनमें इसी प्रकार प्राप्त होता है। शास्त्रकारने कहा है—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते॥

'तीन वर्ष, तीन महीने, तीन पक्ष या तीन दिनमें ही अत्यंत उग्र पाप या पुण्यों का फल इसी जीवनमें जीव प्राप्त कर लेता है।'

एक कष्ट हो रहा है। अवश्य ही वह किसी पूर्वकृत पापका परिणाम है। उसके निवारणके लिए जप, तप, पुरश्चरणका शास्त्रों में विधान है और विधिपूर्वक उस विधानके सम्पन्न होनेपर वह निवारित भी हो जाता है। इसी प्रकार किसी अभीष्टकी प्राप्तिके लिए भी अनुष्ठान है। पुत्रेष्टि यज्ञ करनेसे पुत्र प्राप्त होता है। इसी प्रकार दूसरी कामनाओंके लिए दूसरे विधान हैं। कोई पाप हो गया। उसका फल आगे भोगना न पड़ें, इसके लिए प्रायश्चित्तके विधान हैं। प्रायश्चित्त कर लेनेपर उसके फलसे छुटकारा हो जायेगा। इस प्रकार प्रारब्धको परिवर्तित किया जा सकता है। उसे प्रभावित किया जा सकता है। जो हमारे ही कर्मों से निर्मित हुआ है, उसमें हम परिवर्तन भी कर सकते हैं। प्रायश्चित्तके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतका मत है-

कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।
अविद्वदधिकारित्वात् प्रायश्चित्तं विमर्शनम्॥

(६/१/११)

'प्रायश्चितका विधान अज्ञ अधिकारियोंके लिए है, क्योंकि कर्मके द्वारा कर्मका सम्पूर्ण परिहार हुआ नहीं करता।' बात ठीक है। किसीने हत्या कर दी। प्रायश्चित्त करके हत्याके पापसे अवश्य वह मुक्त हो जायेगा; किंतु हिंसाके जो संस्कार उसके हृदयपर पड़े, वे प्रायश्चित्तसे दूर नहीं होंगे। वे उसे पुनः हिंसाकी

ओर प्रवृत्त कर सकते हैं। इन संस्कारोंका परिहार कैसे हो? इस प्रश्नपर विचार करनेसे पूर्व हमें यह देखना है कि प्रारब्ध बनता कैसे है? भगवान् कहते हैं—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता ८/६)

'मनुष्य जिन-जिन भावोंका स्मरण करता हुआ शरीर छोड़ता है, उन्हीं भावनाओंसे भावित रहनेके कारण वह उन-उन स्वरूपों (योनियों) को प्राप्त करता है।'

भगवान् दयालु हैं—दयासागर और साथ ही परम न्यायकारी भी। प्रारब्ध-विधान ही उनकी दया एवं न्यायका मूर्त सामञ्जस्य है। शास्त्र कहते हैं कि मनुष्यकी मृत्युके समयका जो अन्तिम भाव है, वही उसके प्रारब्धका केन्द्र है। उसे केन्द्रमें रखकर सञ्चितसे संस्कार-समूह एकत्र होते हैं और प्रारब्ध बनता है। जैसे लौहकणोंके मध्यमें रक्खा चुम्बक लौहकणोंको आकर्षित कर लेता है और उनके चिपक जानेसे एक आकृति बन जाती है, वैसे ही अन्तिम संस्कार सञ्चितके संस्कारोंको आकर्षित करता है और उन्हींसे प्रारब्ध बनता है।

अन्तिम संस्कारसे प्रारब्ध-निर्माणके लिए सामञ्जस्य रखने वाले संस्कार आकर्षित होते हैं और उनसे प्रारब्ध बनता है, यह एक प्रारब्ध नहीं होता है। यह होती है प्रारब्धोंकी एक श्रृखला, जिसमें भोग योनियोंकी श्रृंखलाकी-कड़ियोंकी समाप्ति मनुष्य-जीवनके प्रारब्धपर होती है। भगवान्का दयामय विधान यह है कि श्रृंखला जहाँ तक सम्भव हो, छोटी बने। अर्थात् मनुष्यको यथासम्भव कम भोग-योनियोंमें रहकर पुनः मानव-जीवन प्राप्त हो सके और वह सञ्चितसे परित्राण पानेका अवकाश पाये। यदि किसी भोग-योनियोंमें श्रृंखला समाप्त होनेका अवसर हो तो वह योनि यथा-सम्भव निकट आती है, जैसे नृगके पुण्यकर्म पड़े रहे और प्रथम कृकलास-रूप प्राप्त हुआ और उस रूपमें उन्हें भगवान्के दर्शन हुए।

इस बातको और स्पष्ट समझ लेना चाहिए। अन्तिम संस्कार तो मुख्य रहेगा ही। उससे सामञ्जस्य रखने वाले संस्कारोंकी लम्बी श्रृंखला बने तो भोग-योनियोंसे मनुष्य-योनिमें आनेका क्रम बैठना कई सहस्र कल्पों तक शक्य न होगा। अतएव शुभाशुभ संस्कारोंका ध्यान छोड़कर स्रष्टाका विधान यह है

कि श्रृंखला यथाशक्य छोटी हो, जीवको यथासम्भव शीघ्र मानव-शरीर प्राप्त हो। इसीको लक्ष्यकर कहा गया है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(रामचरितमानस, ७/४३/६)

इस प्रारब्ध-विधानमें दयामयकी अहैतुकी दया ही है। इसका फल यह होता है कि मनुष्य नवीन प्रारब्धमें यथा-सम्भव इस जन्मके अशुभ संस्कारोंसे सुरक्षित हो जाता है और वे सञ्चितमें चले जाते हैं। उसके साधनके संस्कार ही उसे प्रेरित करनेको रहते हैं। उसका पथ निर्विघ्न होता जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(गीता, ६/४४)

उनके साथ एक होनेकी जिज्ञासा भी जिसने की, वह सकाम कर्मकी सीमासे पार हो गया। क्योंकि वह न चाहे तो भी पूर्वाभ्यासके कारण बरबस उसी ओर खिंच जाता है।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता, ९/३१)

'अर्जुन! भली प्रकार समझ लो कि मेरे भक्तका विनाश हो नहीं सकता।'

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

(गीता, ६/४३)

नवीन जन्ममें उसके पूर्वकृत अभ्यास उसे आकर्षित करते हैं। उसे वही पौर्वदेहिक साधनात्मिका बुद्धि प्राप्त होती है और फलतः परम सिद्धिके लिए वह पुनः प्रयत्न करता है।

साधन केवल मनुष्य-योनिमें ही हो सकता है। जिसने भगवान्‌की ओर जानेकी जिज्ञासा भी की, उसके वे संस्कार भोग-संस्कारोंसे प्रबल रहेंगे। नवीन प्रारब्ध-विधानमें जब भी मानव-प्रारब्ध बनेगा, उसमें वे तो रहेंगे ही। इस प्रकार वे उत्तरोत्तर वृद्धि करेंगे; उनके सञ्चितमें पड़े रहनेकी कोई सम्भावना नहीं। वे अन्तिम संस्कारके प्रधान रहते भी सम्मुख रहेंगे और फलतः प्रारब्ध-श्रृंखला छोटी होगी। इस जन्ममें व्याघात उपस्थित करने वाले अशुभ संस्कारोंमें-से

कि श्रृंखला यथाशक्य छोटी हो, जीवको यथासम्भव शीघ्र मानव-शरीर प्राप्त हो। इसीको लक्ष्यकर कहा गया है—

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

(रामचरितमानस, ७/४३/६)

इस प्रारब्ध-विधानमें दयामयकी अहैतुकी दया ही है। इसका फल यह होता है कि मनुष्य नवीन प्रारब्धमें यथा-सम्भव इस जन्मके अशुभ संस्कारोंसे सुरक्षित हो जाता है और वे सञ्चितमें चले जाते हैं। उसके साधनके संस्कार ही उसे प्रेरित करनेको रहते हैं। उसका पथ निर्विघ्न होता जाता है। भगवान्‌ने कहा है—

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥

(गीता, ६/४४)

उनके साथ एक होनेकी जिज्ञासा भी जिसने की, वह सकाम कर्मकी सीमासे पार हो गया। क्योंकि वह न चाहे तो भी पूर्वाभ्यासके कारण बरबस उसी ओर खिंच जाता है।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता, ९/३१)

'अर्जुन! भली प्रकार समझ लो कि मेरे भक्तका विनाश हो नहीं सकता।'

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

(गीता, ६/४३)

नवीन जन्ममें उसके पूर्वकृत अभ्यास उसे आकर्षित करते हैं। उसे वही पौर्वदेहिक साधनात्मिका बुद्धि प्राप्त होती है और फलतः परम सिद्धिके लिए वह पुनः प्रयत्न करता है।

साधन केवल मनुष्य-योनिमें ही हो सकता है। जिसने भगवान्‌की ओर जानेकी जिज्ञासा भी की, उसके वे संस्कार भोग-संस्कारोंसे प्रबल रहेंगे। नवीन प्रारब्ध-विधानमें जब भी मानव-प्रारब्ध बनेगा, उसमें वे तो रहेंगे ही। इस प्रकार वे उत्तरोत्तर वृद्धि करेंगे; उनके सञ्चितमें पड़े रहनेकी कोई सम्भावना नहीं। वे अन्तिम संस्कारके प्रधान रहते भी सम्मुख रहेंगे और फलतः प्रारब्ध-श्रृंखला छोटी होगी। इस जन्ममें व्याघात उपस्थित करने वाले अशुभ संस्कारोंमें-से

अधिकांश सञ्चितमें चले जायेंगे। इस प्रकार अध्यात्मके पथमें जो जितना चल चुका है, उसे उससे आगे ही चलना रहता है और प्रत्येक यात्रा-विरामके पश्चात् सर्वेश्वरका विधान उसके लिये अधिक सुविधाएँ देता है। दयामय करुणार्णव प्रभु चाहते हैं कि जीव शीघ्रातिशीघ्र उनके चरणोंमें उपस्थित हो सके, वह इस तापमय कुत्सासे परित्राण पाये।

जैसे ही मनुष्यका मरण-क्षण आता है, उसका अन्तिम संस्कार प्रारब्ध बना लेता है और उससे भोग-शरीरकी प्राप्ति होती है। जैसे घासपर रेंगने वाला कीड़ा एक तृणको पकड़कर तब दूसरेको छोड़ता है, वैसे ही जीव एक शरीरको ग्रहण करके तब दूसरेको छोड़ता है। जीवके कारण एवं सूक्ष्म शरीर तो रहते ही हैं, स्थूल शरीर छोड़ने के लिए वह भोग-शरीर प्राप्त करता है। जब तक भी वह शरीर है, मायाके राज्यमें, जो कि त्रिगुणात्मिका है, उसे त्रिविध-शरीर-संयुक्त ही रहना पड़ता है। यही यातना या भोग-शरीर नरककी यातनाओं अथवा स्वर्गके भोगोंको उपलब्ध करता है।

यों तो सभी शरीर पञ्चभौतिक होते हैं; किन्तु जैसे हमारे शरीरमें पार्थिव अंशकी प्रधानता है, वैसे ही भोग-शरीर तेजःप्रधान होते हैं। भोग-शरीरोंकी आकृति तो वैसी ही होती है, जैसी मृत्युके समय मनुष्यकी आकृति थी; किन्तु उनका निर्माण तेजससे होता है। उनमें यातना और प्रेत-शरीर धूम्र-प्रधान होते हैं और इसीसे उन्हें वायुशरीरी कहा जाता है। वैसे वायु अग्निकी अपेक्षा सूक्ष्मतत्त्व है और वायु-शरीर अग्नि-शरीरसे प्रबल होगा; क्योंकि स्थूलकी अपेक्षा सूक्ष्म शक्तिशाली होता है। परन्तु प्रेतादि शरीर वायुतत्त्व प्रधान न होकर धूम्रनिर्मित होते हैं। देव शरीर ज्योतिः-प्रधान हैं। पार्थिव शरीरसे सूक्ष्म होनेके कारण दोनोंकी स्वेच्छा-गति है और वे व्यक्त भी हो सकते हैं। क्योंकि उनकी आकृति उनके पार्थिव शरीरके अनुरूप होती है, हम देखनेपर उन्हें पहचान सकते हैं।

क्योंकि देवशरीर एवं प्रेतशरीरोंकी आकृति उनके पार्थिव शरीरके अनुरूप ही होती है, इसका बड़ा सीधा उत्तर है—पार्थिव शरीरके प्रति उनकी आसक्ति ही इसका कारण है। इसलिए अन्त्येष्टिको विधिपूर्वक सम्पन्न करनेका शास्त्रादेश है। पार्थिव शरीरके साथ आसक्तिका सूक्ष्म सम्बन्ध जीवको आकर्षित कर लेता है। तन्त्रोंमें मृत पुरुषके कपालके द्वारा अथवा शवके द्वारा प्रेत-सिद्धिका वर्णन है। कपाल या शव उस शरीरमें आसक्ति-सूत्रसे बद्ध परलोकगत जीवको आकृष्ट कर लेता है, यदि आकर्षण सविधि हो। साथ ही

तन्त्रोंमें विधान है कि गंगाजीमें पड़े शव या गंगा-तीरके कपाल मन्त्र-सिद्धिके लिए काममें नहीं आते। क्योंकि भगवती भागीरथीका ब्रह्मद्रव जीवको मुक्त कर देता है। उन कपालों या शवोंमें किसीका आसक्ति सूत्र शेष न होनेसे मन्त्र किसीको आकृष्ट नहीं कर पाता। इसी प्रकार अयोध्या, ब्रज आदि मुक्तिप्रद क्षेत्रोंमें मृत व्यक्तियोंके शव या कपाल भी मन्त्र-प्रयोगके लिए अनुपयोगी होते हैं। गंगाजीमें दूर देशसे लाकर फूल (अस्थि) विसर्जित करनेका भी इसीलिए विधान है कि जीव पार्थिव आकर्षणसे मुक्त हो जाय। शरीरके अग्निसंस्कारका इस दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्व है। कोई भी कापालिक शव या कपालके द्वारा उसके आसक्ति-सूत्रसे बद्ध जीवको आकर्षित करके यहाँ अपनी कुत्सित सेवामें लगाकर कष्ट न दे सके, इसके लिये शरीरका दाह करके सावधानी पूर्वक भस्मको भी जलमें प्रवाहित कर देनेका शास्त्रोंने आदेश दिया है।

साधारण जीव या तो पापी होता है या पुण्यात्मा। यदि वह पापी हुआ तो यमदूत उसे भयंकर रूपमें प्राप्त होते हैं। पाशमें बाँधकर ताड़ना करते हुए सन्तप्त वज्रकण्टक शाल्मली एवं असिपत्रवनके अन्धकारपूर्ण मार्ग से यमपुरी ले जाते हैं और यमराज भी उसे भीषण रूपमें दृष्टि पड़ते हैं। यदि वह पुण्यात्मा हुआ तो उसे सौम्य धर्मदूत सम्मानपूर्वक ले जाते हैं और धर्मराज उसे सौम्यरूपमें दर्शन देते हैं। जिन प्राणियोंके पापोंका कष्टभोग पृथ्वीपर सम्भव नहीं, वे नरकमें यातना भोगते हैं और जिन्हें पुण्योंका सुखोपभोग धरापर शक्य नहीं, वे अपने पुण्यार्जित स्वर्गलोकको जाते हैं। पाप या पुण्यका भोग जब एक सीमा तक भोग लिया जाता है और वह ऐसी माध्यमिक स्थितिमें पहुँच जाता है, जिसका उपभोग मृत्युलोकमें सम्भव हो सके, तो प्राणी पृथ्वीपर आता है। यमपुरी, यमराज, यमदूत आदिका स्वरूप जीवको उसके कर्मके अनुसार घोर, सौम्य एवं भव्य दृष्टि पड़ता है।

साधारण जीवोंके अतिरिक्त योनियोंकी भी दो गतियाँ हैं—एक गति योगभ्रष्टोंकी होती है, जो धूम्र, रात्रि, कृष्णपक्ष तथा दक्षिणायन के छः महीनोंके अधिष्ठाता देवताओंके द्वारा चन्द्रलोक ले जाये जाते हैं और वहाँसे ब्रह्मलोक पहुँचते हैं। इनके सम्बन्धमें ही भगवान्‌ने कहा है—

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।

(गीता ८/१६)

ब्रह्मलोकमें कल्पपर्यन्त वे वहांके सुख भोग करते हैं। जब कल्पान्तमें

ब्रह्माजी अपनी रात्रिके प्रारम्भमें सोते हैं तो वे भी दूसरे जीवोंके समान अव्यक्तमें सुषुप्तप्राय रहते हैं और सृष्टिके प्रारम्भमें उनको पुनः जन्म-ग्रहण करना पड़ता है।

इस प्रकार नरक और स्वर्गसे लौटने वाले जीवोंके अतिरिक्त ब्रह्मलोकको प्राप्त योगभ्रष्ट भी होते हैं, जो धरापर लौटते हैं। यज्ञ तथा पुण्य-प्रतापसे ब्रह्मलोक प्राप्त करनेवाले भी लौटते हैं। जीवोंके लौटनेका एक ही क्रम है। दिव्यलोकसे चन्द्रलोकमें होकर मेघोंमें या नरकसे गगनमें होकर मेघोंमें और वहाँसे वर्षा द्वारा पृथ्वीपर जीव आता है। जलसे शरीरधारियोंके शरीरमें या वनस्पतिमें और वहाँसे शरीरमें पहुँचकर वह वीर्य बनता है और इस क्रमसे आकृति ग्रहण करता है।

योगियोंकी दूसरी गति है देवयान-मार्ग। जो योगी पूर्णत्वको प्राप्त कर चुका है, किन्तु दिव्यलोकोंके भोगोंका उपभोग करनेकी उसमें इच्छा है, वह अपने सूक्ष्म एवं कारणशरीरका लय नहीं करता। सूक्ष्मशरीरके मन इन्द्रियादिके साथ सुषुम्णाके मार्गसे वह शरीर छोड़ देता है। उसका शरीर पवनात्मक होता है। देवताओंके तैजस अंशसे भी वह सम्पन्न होता है। अग्नि, ज्योति, दिवस, शुक्लपक्ष तथा उत्तरायण के छः महीनोंके देवताओंके द्वारा वह भगवान् विष्णुके शिशुमारचक्रमें स्थित महर्लोक, जनलोक या तपोलोकमें ले जाया जाता है। जब प्रलयके समय तीनों लोक भगवान् संकर्षणकी मुखाग्निसे भस्म होने लगते हैं तो महर्लोक उनके तापसे तप्त हो जाता है। अतएव वहाँके लोग ऊर्ध्वलोकोंमें और अन्ततः ब्रह्मलोकमें चले जाते हैं। ब्रह्मलोकमें तथा इन ऊर्ध्वलोकोंमें और कोई कष्ट नहीं, किन्तु सांसारिक प्राणियोंकी असह्य पीड़ाके देखनेसे दयाजन्य कष्टानुभव वहाँ होता है। यहाँके ये महापुरुष अव्याहतगति होते हैं। वे त्रिलोकीमें और उसके बाहर भी जानेमें समर्थ होते हैं। दयावश वे कभी-कभी भूतलके किसी अधिकारी पुण्यात्माको दर्शन एवं उपदेश देने भी पधारते हैं। कल्पान्तमें वे ब्रह्माजी के शरीरमें प्रवेश कर जाते हैं और पुनः सृष्टि के प्रारम्भमें मानसी सृष्टिके रूपमें प्रकट होकर अपने लोकोंमें निवास करते हैं। उनका यही क्रम द्विपरार्धान्त तक चलता है। महाप्रलयके समय ब्रह्माजीके साथ वे भी सूक्ष्मादि शरीरोंका न्यास करके मुक्त हो जाते हैं। देवयान-मार्गसे गये महत्तम पुरुषोंका पुनरावर्तन नहीं होता।

उक्त चार प्रकारकी गतियोंके अतिरिक्त दो गतियाँ जीवकी और होती हैं।

एक तो निर्वाण-मुक्ति और दूसरी भगवद्धामकी प्राप्ति। निर्वाण-मुक्ति ज्ञानके द्वारा प्राप्त होती है। उसीके सम्बन्धमें श्रुति कहती है— 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। ज्ञानें बिना मुक्ति नहीं होती। उसके स्वरूपके सम्बन्धमें श्रुतिका कहना है—

न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति। तत्रैव प्रविलीयन्ते।

'उसके प्राण शरीरसे कहीं बाहर नहीं जाते। वे वहीं लय हो जाते हैं। ज्ञानकी यह स्थिति दो प्रकारसे आती है—योगके द्वारा और विचारके द्वारा। जिस योगीको दिव्य लोकोंमें भोगोंकी इच्छा नहीं रहती, वह अपने शरीरके पञ्च महाभूतोंको महाभूतोंमें, फिर पृथिव्यादिका पर्याय-क्रमसे अपने कारणोंमें न्याय करके अन्तमें प्रकृतिको आत्मासे उपसंहृत करके आत्मरूपसे निर्विकल्प समाधिमें स्थित हो जाता है। एक बार निर्विकल्प समाधिकी प्राप्तिके अनन्तर प्रोत्थान होनेपर भी कर्मबन्ध उसे नहीं होता। वह प्राणोंपर अधिकार कर लेता है और शरीरान्तके समय उपर्युक्त स्थितिमें शरीर छोड़ देता है। अन्तिम समयमें उसके मनमें कोई संकल्प उठता ही नहीं। मन स्वतः लयकी स्थितिमें होता है। परिणामतः उसके प्राण अनन्तमें लीन हो जाते हैं।

ज्ञान या विचारके द्वारा, श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे, यम- नियमादिके आचरणसे विशुद्ध चित्तमें सत्य वस्तुका प्राकटय होता है। जगत् एक महत् स्वप्न है और वह भी द्रष्टाका स्वरूप ही है। इस प्रकार दृश्यकी सत्ता विलीन हो जाती है और'सब कहीं एक ही निष्क्रिय, ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होती है। आत्मोपलब्धि चित्तकी उस अवस्थामें होती हैं, जिसमें सम्पूर्ण चित्र द्रवीभूत हो जाता है। चित्तकी सम्पूर्ण तन्मयताके बिना यह शक्य नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि सञ्चितके संस्कार चित्तसे मिट जाते हैं। सञ्चित भस्म हो जाता है। सम्पूर्ण दृश्यमें तथा उससे परे भी जब एक ही चेतनतत्त्वकी उपलब्धि हो गयी तो पृथक् कर्तृत्वका अहंकार रह कैसे सकता है। अवश्य ही यह उपलब्धि परोक्ष-बौद्धिक नहीं होनी चाहिए वह अपरोक्ष हृदय की मान्यतामें परिवर्तित हो चुकी होनी चाहिए। ऐसा होनेपर कर्तृत्वका अहंकार रहता नहीं। उसके न होनेसे क्रियमाणके संस्कार चित्तपर अंकित नहीं होते। सञ्चित भस्म हो गया और क्रियमाण बनता नहीं, फल यह होता है कि प्रारब्ध अपना भोग समाप्त करके क्षय हो जाता है। जैसे घड़ेके फूट जानेपर घटाकाश महाकाशमें लीन हो जाता है, वैसे ही प्रारब्ध क्षय होनेपर चेतन निर्वाण प्राप्त करता है।

जिस प्रकार ज्ञानके द्वारा सम्पूर्ण दृश्यमें अहंभाव करके एक ही

चित्तत्त्वकी उपलब्धि होती है, उसी प्रकार भावके द्वारा सम्पूर्ण दृश्य एवं क्रिया में भगवद्भाव स्थापित हो जाता है। सब कुछ भगवान् ही हैं। सब भगवानकी ही लीला-उन्हींकी प्रेरणा है। इस भावके भी हृदयमें स्थिर होनेपर कर्तृत्वका अभिमान नष्ट हो जाता है। भगवद्दर्शन भी भावकी उस चरमावस्थामें होता है, जब हृदय सम्पूर्ण रूपसे द्रवीभूत होकर तदाकार हो जाय। अतएव सञ्चितका क्षय वहाँ भी हो जाता है। इस प्रकार बोधात्मक वृत्ति एवं भावात्मक वृत्तिका चरम परिपाक एक ही है। अन्तर केवल इतना होता है कि ज्ञानी सम्पूर्ण व्यापक तत्वमें अहंभावका साक्षात् कर लेता है, अतः उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता। वे वहीं लीन हो जाते हैं। भक्त भगवान्‌की भावना करता है। भावकी चरमावस्थामें वह भले आत्मविस्मृत हो जाय, परन्तु उसका व्यक्तित्त्व रहता है। फलतः उसे भगवद्धामकी प्राप्ति होती है।

'मुरारेतृतीयः पन्थाः'—मोक्षके इन दो मार्गोंके अतिरिक्त मुरारिका एक तीसरा ही पथ है वे त्रिभंगी-टेढ़े देवता सीधे मार्ग कम पसन्द करते हैं। यही तीसरा मार्ग बड़े-बड़े दार्शनिकोंको चक्करमें डालता है। क्रियमाण बनते रहते हैं। कर्तृत्वाभिमानका नाश नहीं होता। सञ्चित पड़ा रहा है। यह सब होकर भी जीव मायाकी परिधिसे बाहर कूद जाता है। 'सुवा पढ़ावत गनिका तारी।' अजामिलादिके ऐसे दृष्टांत शास्त्रमें भरे पड़े हैं।

भगवान्‌का श्रीविग्रह, उनकी दिव्य लीलाएँ, उनके परम दिव्य नाम उनके नित्य ब्रज आदि धाम—ये अभिन्न हैं। मरणके समय इनमें-से एकका भी आश्रयण जीवको मायाकी परधिसे परे पहुँचा देता है। मृत्युके समय मान लीजिये कि किसीके मनमें भगवान्‌की लीला या नामके संस्कार है॥ भगवान्‌की लीला और उनका नाम तो मायिक है नहीं। अन्तिम संस्कारसे ही सञ्चितके संस्कारोंको सामंजस्य करके प्रारब्ध बनाना है। अन्तिम संस्कार अमायिक है। अमायिक संस्कारसे मायिक संस्कार कैसे आकर्षित होंगे? अमायिकसे मायिकका क्या सामंजस्य? प्रारब्ध बनता नहीं। अब क्रियमाणका समय नहीं। सञ्चित धरे रहते हैं। अमायिक संस्कार क्योंकि अन्तिम है, वह आकर्षण तो करेगा ही। अन्तिम संस्कार आकर्षण-धर्मा होता है। किसे आकर्षित करेगा? अमायिकको जीवको भगवद्धाम जाना नहीं पड़ता। प्रभुके पार्षद उसे ले जाते हैं।

जीवनका अभ्यास ही अन्तमें स्मरण आता है। उस समय बुद्धि कार्यशील नहीं होती। मनमें जहाँ प्रबल आसक्ति होगी, वही अन्तमें हृदयमें आवेगा। अतः

सावधानीपूर्वक निरंतर भगवान्‌में लगे रहना और उन्हींको अपनी आसक्तिका केन्द्र बनाना - यही सबसे सरल मार्ग है जटिल कर्मजालसे परित्राण पानेका।

हमारे शास्त्र कर्मोंका मूल्यांकन भावके द्वारा करते हैं और कर्मोंसे जीवनका सम्बन्ध आसक्ति तथा कर्तृत्वके अहंकारके कारण है। कर्मोंको अनासक्त कर्तृत्वभावसे रहित होकर करना तथा अमायिक तत्वमें भावका परिपाक - यही कर्मबन्धनसे मुक्त होनेका मार्ग है। संक्षेपतः हिन्दू- कर्मवादका यही सारांश है। अब आगे इसीपर कुछ विस्तारसे विचार करें।

●●

पुनर्जन्मवाद

हिन्दू-धर्म अत्यंत व्यापक उदार सार्वभौम धर्म है। अतएव उसमें सब प्रकारके विचारके लोगोंके लिए स्थान है। लेकिन हिन्दू-धर्मके आधार शास्त्र है और हिन्दू शास्त्रोंकी मुख्य विशेषता है पुनर्जन्मवाद। यों तो जितने भी धर्म हैं, जो भी जीवनकी चेतन नित्य सत्ता स्वीकार करते हैं, वे सब मरणोत्तर जीवनमें विश्वास करते हैं, किन्तु यहूदी तथा उसकी परम्पराके दूसरे सब धर्म मानते हैं कि इस सृष्टिमें मनुष्य जीवका कार्यकाल इसी जीवन तक है। शरीरकी मृत्युके पश्चात् जीव प्रलय पर्यन्त सुप्त दशामें रहता है। प्रलयके समय परमात्माके सम्मुख उसके अच्छे-बुरे कर्मोंका विवेचन होता है और तब वह स्वर्ग या नरकमें भेजा जाता है। इस सिद्धांतमें यह नहीं बताया जा सकता कि कोई जीव पशु, कोई कीट, कोई मनुष्य क्यों हुआ? मनुष्यमें भी मूर्ख, विद्वान, धनी, दरिद्र आदि भेद क्यों हैं? क्यों परमात्मने जीवोंके साथ यह विषम व्यवहार किया?

थियासोफिस्ट मानते हैं कि मनुष्यका पुनर्जन्म तो होता है; किन्तु मनुष्य मरकर मनुष्य जन्म ही पाता है। जो जीव जिस योनिमें है, वह दूसरे जन्ममें भी वही योनि पावेगा। इस सिद्धांतमें भी यह बताना कठिन है कि ऐसा क्यों होता है? ईश्वरका जीवोंके साथ यह विषम व्यवहार क्यों है? इस सिद्धान्तके लोग यह उदाहरण देते हैं कि 'जैसे आमके बीजसे आम ही उत्पन्न होता है, वैसे ही मनुष्य मरकर मनुष्य ही होगा।' यह बीजसे वृक्षका उदाहरण भ्रामक है। आमके बीजसे

आम ही उत्पन्न होता है, अतः मनुष्यकी सन्तति मनुष्य ही होगी। मनुष्य डार्विनके मतानुसार बन्दरकी सन्तान नहीं है, यहाँ तक तो ठीक; किन्तु जब किसी वस्तुका रूपान्तर होता है; तब वह उस पूर्व रूपसे सम्बन्धित नहीं रह जाती। आमका वृक्ष, उसका फल, उसके बीज सड़कर आम नहीं उत्पन्न कर सकते। उसपर तो छत्रक (बरसाती छत्ता) उत्पन्न होगा। मनुष्य-शरीर सड़नेपर कीड़े उत्पन्न होते हैं। अब परमाणु विश्लेषणसे यह सिद्ध हो गया है कि एक पदार्थको दूसरे पदार्थके रूपमें परिवर्तित कर देना शक्य है। कोई भी पदार्थ अपनी परम्परा अपने स्थूल रूपके किसी माध्यमके द्वारा ही चल सकता है। वृक्षकी परम्परा बीजसे चलेगी। जब पदार्थका स्थूलरूप सम्पूर्णतः नष्ट हो जाता है; तब भी उसका सूक्ष्म रूप तो रहता ही है। यह सूक्ष्म रूप नाना रूपोंमें परिवर्तित हो जाता है। जल सदा व्यक्त जलके रूपमें ही नहीं रहता। पेड़ोंमें रस, प्राणियोंमें रक्त, आकाशमें वाष्प; वही जल है।

हिन्दू संस्कृतिकी विशेषता है पुनर्जन्म। भारतसे बाहर भी जहाँ हिन्दू जाकर बसे हैं, वहाँ वे जीवके पुनर्जन्ममें विश्वास करते हैं। बौद्ध, जैन, सिख तो हिन्दू हैं ही; आस्ट्रेलिया तथा अमेरिकाके मूल निवासी भी हिन्दू हैं। अतः वे भी पुनर्जन्ममें विश्वास करते हैं। हिन्दू शास्त्रका कहना है कि जीवका कोई स्त्री या पुरुष लिंग नहीं है। जीवकी मनुष्य, पशु, पक्षी आदि कोई जाति नहीं। वह अपने कर्मानुसार शरीर प्राप्त करता है और उस शरीरके लिए निश्चित कर्मोंका उपभोग करके शरीर छोड़ देता है। फिर उसे दूसरा शरीर प्राप्त होता है। इस प्रकार जीव चौरासी लक्ष योनियोंमें घूमा करता है।

वैज्ञानिक अनुसन्धानसे स्पेन्सरके अनुसार तीन लाख बीस हजार वनस्पति तथा बीस लाख प्राणी प्राप्त हुए थे। उसके पश्चात् कई लाख प्राणियों का पता लगा है। पर्वत, हिमप्रान्त, मरुस्थल, घोर अरण्य, वायुमण्डल, समुद्र, भूगर्भमें पता नहीं अभी कितने अज्ञात प्राणी होंगे। बहुतसे जीवोंकी जातियां नष्ट हो गई हैं। शास्त्रोंमें चौरासी लक्ष योनियोंका विवरण इस प्रकार है—

वनस्पति जातियाँ	-२० लक्ष
कृमि	-११ लाख
पक्षी	-१० लक्ष
जलचर	-९ लाख

चौपाए -३० लक्ष

मनुष्य -४ लक्ष

कुल -८४ लक्ष

मनुष्यमें ही देव, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, दिव्यलोकोंके तपस्वी, नाग, दैत्य, दानव, प्रेत, पिशाचादि भी गिन लिये गये हैं।

जीवका स्वरूप

भौतिकवाद आज चाहे जितना बढ़ गया हो; परन्तु आदिकालसे उसकी उपस्थितिका पता लगता है। सदासे ऐसे लोग रहे हैं, जो यह मानते रहे हैं कि जड़ पदार्थोंके संयोगसे ही चेतना उत्पन्न हो जाती है। शरीर तक ही जीवन है। वर्तमान वैज्ञानिकोंकी भी धारणा यही थी कि जीवन तत्व कुछ पदार्थोंका रासायनिक परिणाम ही है। हैकलेने बड़े गर्वसे लिखा था कि कुछ दिनों बाद जीवनतत्व शीशियोंमें बाजारमें बिका करेगा। वैज्ञानिकोंका जो जीवनतत्व (प्रोटोप्लाज्म) है, उसमें कौन-कौनसे तत्व हैं, यह विश्लेषण भी उन्होंने कर लिया। कुत्तेके घण्टे दो घण्टेके गर्भको माताके उदरसे बाहर यन्त्रमें रखकर कुत्ता भी बना लिया, किन्तु वे जीवन तत्व बना न सके। अब तो वैज्ञानिक मानने लगे हैं कि जीवन तत्व (प्रोटोप्लाज्म) जीव नहीं है। वह जीवका एक शरीर मात्र है। यह तत्व भी कदाचित् बनाया नहीं जा सकता।

बड़ी सीधी बात है-तेल तिलोंसे ही निकलेगा, रेतसे नहीं। प्रकृतिमें या तो व्यापक चेतन तत्व माना होगा या चेतन तत्वको प्रकृतिसे भिन्न स्वीकार करना होगा। प्रकृति जड़ है। उसमें चेतना नहीं है। तब उससे चेतनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जो जहाँ किसी रूपमें नहीं, वह वहाँसे व्यक्त नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि हम देखते हैं कि विभिन्नता उत्पन्न करना चेतनका धर्म है और एकरूपताकी आवृति जड़का। जड़में संसर्गज विकृति न हो तो मशीन बराबर एक प्रकारका कार्य करेगी; किन्तु मनुष्य दो लकीरें भी बिल्कुल एक सी नहीं खींच सकता। शास्त्र कहते हैं—मूल तत्त्व चित् एवं नित्य नूतन है। उस नित्य नवीनकी इस सृष्टिमें प्रत्येक पदार्थ नित्य नवीन है। दो व्यक्तियोंके अंगूठेकी रेखाओंके समान एक ही वृक्षके दो पत्ते भी सर्वथा एक रूप नहीं। यदि सृष्टिका कारण जड़ हो तो यह भेद कैसे आवे। जगत्का यह विलक्षण भेद ही

उसके कर्ता चेतनको सूचित करता है। क्योंकि प्रकृतिमें आकाश, जल, पृथ्वी सब कहीं जीवनकी उपलब्धि होती है, अतः प्रकृतिमें चेतन-तत्त्व व्यापक है। कहीं वह व्यक्त है और कहीं अव्यक्त। दोनों दशाओंमें सर्वव्यापक ईश्वर और अनन्त जीवोंकी सत्ता सिद्ध होती है।

समस्त शरीरमें भिन्न-भिन्न प्रकारके जीव हैं या एक ही प्रकारके? देखा यह जाता है कि आहारका अन्वेषण और उसकी पहिचान, आहार पचाना, मल त्यागना, आत्म-रक्षा, सन्तानोत्पादन, ये सभी जीवोंकी समान प्रवृत्तियाँ हैं। शरीर तो मृत्युके पश्चात् पड़ा ही रहता है। मृत्युके अनन्तर शरीरमें कुछ घटता नहीं जान पड़ता। अतएव सभी शरीरोंमें-से मृत्युके पश्चात् जो निकल गया, वह समान होना चाहिए। जीव तो इतने छोटे पाये जाते हैं जो अत्यधिक शक्तिशाली यन्त्रसे भी कठिनतासे दिखाई पड़ते हैं। अतः जीव कितना छोटा होगा, यह अनुमान किया जा सकता है। शास्त्रोंने जीवका प्रमाण बतलाया है—

बालाग्र शत भागस्य शतधा कल्पितस्य च।
तस्य भागस्य भागस्य भाग जीवस्य कल्पना॥

एक केशके अग्रभागको दस अरब भागोंमें बाँटा जाय तो उसके अंशके बराबर जीव है। जीवके इस आकारकी कल्पना ही की जा सकती है। वस्तुतः तो चेतन सत्ताका कोई आकार नहीं होता। जीवके इस आकारकी कल्पना भी उसके कारण शरीर तथा सूक्ष्म शरीरके साथ होनेसे की जाती है। जीव मायाके सूक्ष्म तीनों गुणोंसे आवृत है। यह उसका कारण शरीर है। इस कारण शरीरके ऊपर सूक्ष्म शरीरका आवरण है। सूक्ष्म शरीरमें सूक्ष्म पंचभूत, पंचतन्मात्राएँ, दश इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार ये चौबीस तत्व होते हैं। जीव कभी भी तीन शरीरोंके बिना नहीं रहता है ये दो कारण शरीर तथा सूक्ष्म शरीर तो सदा उसके साथ रहते हैं; परन्तु तीसरा शरीर बदलता रहता है। संसारमें उसको स्थूल शरीर मिलता है। स्वर्गमें भोग-शरीर और नरकमें यातना-शरीर। स्थूल शरीरको छोड़ते समय जीव एक शरीरका धारण करके ही इस शरीरको छोड़ता है। जैसे घासका कीड़ा एक तृणको पकड़कर तब दूसरेको छोड़ता है। इस अव्यक्त देहका आकार शास्त्रोंने अंगूठे समान बताया है। इसका कोई आकार नहीं। जीव जिस स्थूल शरीरसे निकलता है, शरीरासक्तिके कारण यह भाव शरीर उसे उसी रूपमें प्राप्त होता है। यही भाव शरीर यमदूतों द्वारा यमलोकमें ले जाया जाताहै। वहाँ उसे अपने कर्मानुसार भोग या यातना-शरीर मिलते हैं।

उनकी आकृति भी भाव शरीरके अनुसार होती है। जीव नरक या स्वर्ग तक तो उस स्थूल शरीर जैसी आकृतिमें रहता है, जैसी पृथ्वीमें उसकी थी; किन्तु वहाँसे जब पुनः पृथ्वीमें आनेके लिए चन्द्र-मण्डलमें आता है तो उसकी आकृति जलकार हो जाती है। कदाचित वहीं वह जीवन तत्व (प्रोटोप्लाज्म) का स्थूल आवरण प्राप्त करता है।

जीवकी गति

स्वामी श्रीरामतीर्थजीने गुरु बाबा नगीना सिंहजी 'वेदी' ने अपने वेदानुवचनमें जीवकी गतिको आधुनिक ढंगसे समझानेका प्रयत्न किया है। समझने के लिए उनकी शैली अच्छी है। उनके लेखका सारांश यह है कि- शरीर पिताके वीर्यसे बनता है। वीर्य अन्नसे बनता है। अन्न या तृण वर्षासे पुष्ट होते हैं। जलपर चन्द्रमाका प्रभाव है, यह समुद्रके ज्वारभाटेसे सिद्ध है। अतएव जीव चन्द्रमासे उनकी किरणोंके मार्गसे बादलमें आये। वहाँसे वर्षाके जलके साथ पृथ्वीमें आकर जल द्वारा ही पौदेमें गये। पौदेको पशुने या उसके बीजको मनुष्यने खाया तो वहाँ वे वीर्यमें पहुँचे। शास्त्रोंमें वर्णित जीवके मर्त्यलोकमें आनेका यही मार्ग है। जीवोंके मार्ग चितासे भिन्न होते हैं। जो कर्मासक्त हैं, उनका संसर्ग धुएँसे होता है। वे धुएँसे होकर आगे जाते हैं। धुआँ, रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायनके देवता उसे चन्द्रलोक तक पहुँचाते हैं। वहाँसे वह लौटता है। जिनका प्रकाशमय परमात्मासे प्रेम है, उनका अग्नि-ज्वालासे सम्बन्ध होता है। अग्निके अधिष्ठाता सूर्य हैं, अतः वह सूर्यलोक क्रमशः जाता है और वहींसे मुक्त हो जाता है। जो देहासक्त हैं, उनका सम्बन्ध देहसे होता है। देहके साथ भस्ममें मिलकर मिट्टी, पत्थर, तृण आदि होते हुए वे नीचेसे फिर देहधारियों तक पहुँचते हैं। श्रीबाबाजीके मतसे जिनके शरीरका दाह संस्कार नहीं होता, यदि वे जीवन्मुक्त न हुए तो उनकी अधोगति ही होती है।

शास्त्रोंके अनुसार जीवकी ६ गतियाँ हैं। दो गति साधारण पुरुषोंकी, दो योगियोंकी और दो मुक्तात्माओंकी। साधारण पुरुषकी मृत्युके समय यमदूत आते हैं और जीवको बलात् शरीरसे निकाल लेते हैं। पाशमें बाँधकर वे उसे संयमिनीपुरी ले जाते हैं। यदि वह पुण्यात्मा प्राणी हुआ तो यमदूत उसे सौम्यरूपमें मिलते हैं। आदरपूर्वक सुखद मार्गसे ले जाते हैं। यमलोक भी उसे भव्य दिखाई पड़ता है। धर्मराज उसे दर्शन देते हैं। और वहाँसे अपने पुण्य-कर्मोंका फल भोगने

वह स्वर्गादि भेजा जाता है। यदि पापी प्राणी हुआ तो उसे यमदूत बड़े भयंकर रूपमें दीखते हैं। बहुत कष्ट देते हुए, कष्टपूर्ण मार्गसे ले जाते हैं। वैतरणी नदी और यमपुरी उसे भयंकर दीखती हैं। यमराज उसे दण्ड लिये भीषण रूपमें दीख पड़ते हैं। वहाँसे वह पापोंका फल पाने नरकमें भेज दिया जाता है। स्वर्ग या नरकके अतिरिक्त बहुत-सी पुण्य योनियाँ हैं, जैसे गन्धर्व, यक्ष, किन्नर आदि। ऐसे ही प्रेतादि कष्टप्रद योनियाँ भी हैं। जिस सीमा तक सुख या दुःख संसारमें भोगना सम्भव है, उससे अधिक सुख या दुःख भोगनेके लिए वह स्वर्ग या नरक भेजा जाता है। वहाँसे अतिरिक्त सुख या दुःख भोगकर फिर बादलोंमें (अन्तरिक्षमें) आता है और तब वर्षाके द्वारा पृथ्वीपर पहुँचता है ।

मृत्युके साथ ही जीवके कर्मसूत्र पृथ्वीसे समाप्त नहीं हो जाते। संसारमें उसके अनेक राग-द्वेषके सूत्र होते हैं। इन सूत्रोंसे कर्म विनिमय होता है, यह हम आगे बतावेंगे। अतएव जीवको पितृलोकमें कुछ काल प्रतीक्षा करनी पड़ती है कि विश्वमें उसके कर्मसूत्रोंका परिणाम आ जाय, जिससे उसकी गतिका ठीक निर्णय हो। इस प्रतिक्षा-कालमें उसे अपने कर्म-भोग तो मिलते नहीं, भूलोकके सम्बन्धियोंके दिये श्राद्धादिके पिण्डोंपर निर्भर रहना पड़ता है। किसी जीवका संसारसे सम्बद्ध राग या द्वेषका सूत्र कब समाप्त होगा, यह निश्चित नहीं। अतएव यह भी निश्चित नहीं कि कौन-सा जीव कब तक पितृलोकमें रहेगा।* अनेक बार यह राग या द्वेष सूत्र इतना प्रबल होता है कि उसीकी प्रमुखतामें प्रेतादि योनियाँ प्राप्त हो जाती हैं। मृत्युके पश्चात् शरीरसे आसक्तिके कारण कुछ काल तक जीवका आकर्षण सूत्र शरीरसे और उसके अवशेषोंसे रहता है। मरणोपरान्त और्ध्वदैहिक कृत्य इसीलिए किये जाते हैं। यदि गंगाजी या किसी पवित्र तीर्थमें मृत प्राणीके शरीरके कुछ अवशेष पड़ जाते हैं तो तीर्थके प्रभावसे शरीरके अवशेषोंसे बँधा जीवका आकर्षण सूत्र समाप्त हो जाता है। जीव स्थूल शरीरके इस बन्धनसे मुक्त हो जाता है। अन्यथा शरीरके अंशोंके द्वारा जीवको आकर्षित किया जा सकता है। तन्त्रशास्त्रमें इसीलिए तीर्थहीन देशकी चिता-भस्म तथा खोपड़ीके उपयोगका विधान है। इस प्रकार मन्त्र प्रयोगसे आकर्षित होनेपर जीवको कष्ट होता है। गंगाजी तथा तीर्थोंमें शरीरके 'फूल' विसर्जित करनेकी प्रथा इस दृष्टिसे बहुत महत्वपूर्ण है।

सामान्य पुरुषोंके अतिरिक्त योगीकी भी दो प्रकारकी गतियाँ होती हैं।

प्राणायामके द्वारा इन्द्रियोंके साथ मनको रोककर प्राणोंको क्रमशः भ्रूमध्यमें एकत्र कर जो ब्रह्मरन्ध्र-वेध करके शरीर छोड़ते हैं, वे अग्नि, ज्योति, शुक्ल पक्ष, उत्तरायणके अधिष्ठाता देवताओंके द्वारा सूर्य-मण्डलमें होकर ब्रह्मलोकमें पहुँचते हैं। धर्म-युद्धमें सम्मुख प्राण त्याग करने वाले क्षत्रिय भी इसी मार्गसे ब्रह्मलोक पहुँचते हैं। ब्रह्माजीके साथ उनकी आयु तक वहाँके दिव्य-भोग भोगकर, प्रलयके समय ब्रह्माजीके द्वारा ज्ञान प्राप्त करके वे मुक्त हो जाते हैं। यहाँ ब्रह्मलोकमें धर्मराजके यहाँसे पुण्यात्मा भी आते हैं; किन्तु पुण्यके द्वारा जो ब्रह्मलोक प्राप्त करते हैं, वे प्रलयके समय अव्यक्त प्रकृतिमें सुप्त दशामें रहते हैं। नवीन सृष्टिमें उन्हें पुनः जन्म लेना पड़ता है। जो सूर्य-मण्डल वेधन करके आते हैं, वे फिर जन्म नहीं लेते। जो योगी अन्तिम समय प्राणरोध करके उपरो रीतिसे शरीर त्याग नहीं कर पाते, वे मृत्युके पश्चात् धूम्र, रात्रि, कृष्ण पक्ष, दक्षिणायनके देवताओं द्वारा चन्द्रलोक पहुँचाये जाते हैं। वहाँ अपने पुण्योंका उपभोग करके संसारमें पवित्र सम्पन्न कुलमें उत्पन्न होते हैं और फिर साधन करते हैं। उनका साधनक्रम मुक्त होनेसे पूर्व समाप्त नहीं होता।

मुक्तात्माओंमें एक तो वे होते हैं जो योगी हैं। अन्तिम समय मनको एकाग्र करके वे समस्त तत्वोंको लय कर देते हैं। व्यापक तत्वसे एकत्व प्राप्त कर लेते हैं। दूसरे वे हैं जिन्होंने जीवनमें ही अपरोक्ष आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर लिया है। वे नित्य आत्मस्थ ही रहते हैं। उनका शरीर किस दशामें छूटता है, इसकी कोई चिन्ता नहीं। ये दोनों प्रकारके महापुरुष यहीं मुक्त हो जाते हैं। उनके शरीरसे जीव निकलता नहीं। जैसे घड़ेके फूट जानेपर उसके भीतरका आकाश महाकाशमें मिल जाता है, वैसे ही प्रारब्धके नष्ट होते ही चेतन-तत्व व्यापक चेतनसे एकत्व प्राप्त कर लेता है। शरीरत्रय एक साथ नष्ट हो जाते हैं।

'मुरारेः तृतीयः पन्था' इन सबसे मुरारिका तीसरा ही मार्ग है। ये त्रिभंगी ललित देवता सबसे भिन्न पथ रखते हैं। भक्तोंकी गति उनके आराध्य हैं। वे कर्म नियमसे परे होते हैं। जैसे राजकुमारको अपने सम्राट् पिताके पास जानेके लिए राजदरबारमें कोई नियम नहीं, वैसे ही भक्तके लिए कोई नियम नहीं। वह इस विश्व दरबारका दरबारी नहीं है। वह विश्वेशका राजकुमार है। वह कब, कहाँ, किस दशामें शरीर छोड़े तो क्या होगा, यह सब व्यर्थ बातें हैं। विश्वेश और उसकी कृपामें विश्वास करते ही प्राणी कर्म-जगतसे ऊपर चला जाता है। जब तक आराध्यकी इच्छा है, वह जगतमें है। आराध्य उसे जानते हैं-बस! भक्त कहीं

जाता नहीं। उसे लेनेके लिए उसके आराध्यके पार्षद आते हैं। अग्नि, सूर्य आदिसे होकर उसका पथ नहीं जाता। उसका गन्तव्य आराध्यका त्रिपाद्विभूतमें स्थित दिव्यधाम है और वह सीधा वहीं जाता है।

'जो यच्छ्रद्धः स एव सः' (गीता-१७/३) जीवकी गतिके सम्बन्धमें गीतामें भगवान्ने यह मुख्यसूत्र निर्देश कर दिया है। जिसकी जहाँ श्रद्धा है, वह वहाँ जायेगा। उसीका स्वरूप प्राप्त करेगा। कर्ममें श्रद्धा वाले कर्म विधानकी गति पायेंगे। योगी योग गति प्राप्त करेगा, ज्ञानी ज्ञान स्वरूपसे एक होगा और भक्त अपने भगवान्को प्राप्त करेंगे। जिनकी श्रद्धा प्रलय पर्यन्त सुप्त रहनेकी है, कदाचित मिट्टी-पत्थरके रूपमें वे सुप्त ही रहेंगे। प्रश्न श्रद्धाकी परिपक्वता एवं दृढ़ताका है।

जीवकी गतिका कारण

जीव की इतनी गतियोंका कारण कर्म है। कर्म मनसे, वाणीसे और शरीरसे तीनों प्रकारसे होता है। कर्म मात्र शुभ या अशुभ होता है और उसका फल सुख या दुःख होता है। जब हम एक कर्म करते हैं तो उसका संस्कार हमारे चित्तपर पड़ता है। हम जितने कर्म करते हैं, जितनी वस्तुओं, व्यक्तियों तथा क्रियाओंके सम्पर्कमें आते हैं, सबके संस्कार हमारे चित्तपर पड़ते रहते हैं। चित्तके रिकार्डपर वे अंकित होते रहते हैं। सृष्टिका नियम यह है कि यहाँ कुछ नष्ट नहीं होता। हमारे चित्तपर जितने संस्कार पड़ते हैं, वे अवसर पाकर जागृत हुआ करते हैं। मनका संयोग चित्तके जिस भागसे होता है, वही संस्कार जग जाता है। जैसे ग्रामोफोनकी सुई रिकार्डके जिस अंशपर चलती है, उस अंशका शब्द प्रकट हो जाता है। ये प्रकट संस्कार दो प्रकारके होते हैं-स्मृति रूप और प्रेरणा (वासना) रूप। हम पेड़, पौधे, पर्वतादिको जैसे तटस्थ भावसे देखते हैं, वैसे ही तटस्थ भावसे बहुतसे व्यक्तियों और घटनाओंको भी देखते हैं। इन सबके संस्कार तो चित्तपर पड़ते हैं और कभी-कभी स्मरण भी होते हैं; परन्तु ये कोई इच्छा नहीं उत्पन्न करते। अतः इनसे कोई फल भी प्रकट नहीं होता। ये बहुत गहिरे भी हो सकते हैं और दूसरे जन्ममें भी स्मरण रह सकते हैं, परन्तु प्रेरणात्मक शक्ति इनमें न होनेसे ये जीवके सुख-दुःख या किसी गतिके कारण नहीं होते।

दूसरे प्रकारके संस्कार वासनात्मक होते हैं। इन संस्कारोंमें प्रेरणा शक्ति होती है। हम जितने कार्य राग या द्वेष युक्त होकर करते हैं, उन सबके संस्कार

प्रेरणात्मक होते हैं। चाहे वे कर्म शरीरसे हुए हों या मन-से। एक महापुरुषका कहना है—'जीव जो चाहता है, वही उसे प्राप्त होता है। किसी जीवकी उसकी इच्छाके विरुद्ध कोई भोग नहीं मिलता। कोई इच्छा बिना पूर्ण हुए नष्ट नहीं हो सकती; क्योंकि नष्ट तो कुछ होता ही नहीं। यह सोच-समझकर इच्छा करो कि तुम्हारी प्रत्येक इच्छा पूर्ण होगी।' यह प्रश्न उठ सकता है कि दुःखकी तो कोई इच्छा नहीं करता। दुःख किसीको क्यों होना चाहिए? बात यह है कि प्राणी दुःख नहीं चाहता, परन्तु दुःखके कारण चाहता है। आप अग्नि चाहें तो उष्णता अपने आप मिलेगी। दूसरी बात यह कि कौन-सी इच्छा किस समय, कितने खण्डमें होकर किस रूपमें पूर्ण होगी, यह निश्चय नहीं। स्वप्न वही होता है, जो जागृतका संस्कार है। लेकिन जागृतमें देखे ऊंट और हाथी स्वप्नमें ऐसे हो जाते हैं कि धड़ हाथीका और सिर ऊँटका। इसका अर्थ है कि संस्कार जागृतके अनुसार ही एकत्र हों, यह आवश्यक नहीं। अतः जो माँस खाना चाहता है, उसकी इच्छा कुत्ते, गीध, व्याघ्र, कृमि किसी योनिका कारण हो सकती है। गर्मीमें शीतल जलमें स्नान करनेकी इच्छा करने वालेकी इच्छा सर्दीमें उसे शीतल सरोवरमें डुबकी दिला दे तो कोई बड़ी बात नहीं।

जैसे हमारा कर्म एवं पदार्थों तथा व्यक्तियोंसे राग-द्वेष है, वैसे ही दूसरोंका भी है। हम ऐसे संसारमें रहते हैं, जहाँ अकेले नहीं रहा जा सकता। जैसे एक व्यक्तिको हैजा होनेसे आस-पासके बहुतसे व्यक्तियोंको हैजेका दोष स्पर्श करता है और हैजेके कीटाणु कोई सम्बन्ध पा जाएँ तो सहस्रों मील दूरके व्यक्ति तक पहुँच सकते हैं, वैसे ही कर्म-जगतमें भी एक दूसरेके कर्म परस्पर सम्बन्ध रखते हैं। ऐसा न हो तो जीव किस देशमें, किस जातिमें, किस कुलमें, कब जन्म ले, यह निश्चित न हो सके। अतएव हमारे कर्मोंसे दूसरे प्रभावित होते हैं और दूसरोंके कर्मोंसे हम प्रभावित होते हैं। वाल्मीकीय रामायणके अनुसार श्रीरामके राज्यकालमें एक शूद्रके तप करनेसे एक ब्राह्मण बालककी मृत्यु हो गई। 'गहना कर्मणो गतिः' कर्मकी यह गति बड़ी गहन है।

शास्त्रोंमें आया है कि स्त्री-पति, गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, राजा-प्रजा ये एक दूसरेके कर्मसे प्रभावित होते हैं। एकके कर्मका एक भाग दूसरेको मिलता है। जिस कुलमें एक सत्पुरुष भगवद् भक्त होता है, उस कुलकी अनेक पीड़ियां मुक्त हो जाती हैं। इसी प्रकार एक व्यक्तिके पाप कर्मसे पितर पतित होते हैं। इसी प्रकार किसीने वृक्ष लगाया है, हम उसकी शीतल छायाका सुख उठाते हैं। किसीने

गड्ढा खोद दिया है, हम उसमें गिरते हैं। इस प्रकार पता नहीं कितने प्रकारसे कर्म-सूत्र परस्पर जालकी भाँति बुने हुए हैं। वृक्ष लगाने वालेको सबको सुख देनेका पुण्य होगा। कहाँसे आयेगा यह पुण्य? छायामें सुख पाने वालोंके कर्मोंसे। इस प्रकार कर्मोंका व्यापक रूपमें विनिमय होता है।

बहुतसे कर्म समष्टि रूपसे होते हैं। एक वर्ग, जाति या समाज ही कोई शुभ या अशुभ कर्म करता है। दंगे, घूस, चोरबाजारी आदि व्यापक कर्म हैं। इसके फल भी सामुहिक रूपमें भोगने पड़ते हैं। महामारी, युद्ध, भूकम्प, बाढ़, अकालादि सामूहिक पापोंके सामूहिक दण्ड हैं। इस स्थूल सामूहिक कर्मोंके अतिरिक्त सूक्ष्म कर्म भी होते हैं। जैसे हम एक वृक्ष लगा देते हैं। इससे वृष्टिमें सहायता होती है। वृष्टिका सबको लाभ होता है। वैसे ही हम जो विचार करते हैं, वह भी समष्टिमें व्यापक हो जाता है और सबको प्रभावित करता है। सबके विचार उसमें कुछ न कुछ प्रभावित होते हैं। हम जिन वस्तुओं या व्यक्तियोंके सम्पर्कमें आते हैं, हमारे परमाणु बड़ी तीव्रतासे उनमें प्रवेश करते हैं और उनके हममें। प्रत्येक परमाणु अपने साथ वहाँके संस्कारोंको ले आता है, जहाँसे वह आता है। ये संस्कार मनको प्रभावित करते हैं और मनमें फिर इच्छा होती है।

इन प्रत्यक्ष कर्मोंके अतिरिक्त किसी कर्मके करने वालेको प्रोत्साहन देने वाले, सहायता देने वाले, उसका अनुमोदन करने वाले, बाधा देने वाले आदि उस कर्मके अनुकूल या प्रतिकूल फलके भागीदार होते हैं। उस कर्मका जहाँ कहीं प्रभाव पड़ता है, सब कहीं सबके यथोचित भाग होते हैं। इस प्रकार राग या द्वेषके सूत्रसे कर्मका विनिमय तथा फल होता है।

कर्मका फल भावके कारण ही होता हो, ऐसी बात नहीं है। कर्म दो प्रकारके होते हैं। भावाश्रित एवं वस्त्वाश्रित। अधिकांश कर्मोंका फल भावनाके अनुसार ही होता है। किसी न किसीकी भावना फलोत्पन्न करनेका कारण होती है। लेकिन कुछ ऐसे भी कर्म हैं जो करने मात्रसे शुभ या अशुभ फल देते हैं। अग्निका स्पर्श एक कर्म है। यह जानकर हो या अनजानेमें हो, हाथ जला ही देगा। राजा नृगने ब्राह्मणकी गाय भूलसे ही दूसरेको दान की। वह गाय लौटाना भी चाहता था। उसकी तनिक भी इच्छा गौ-हरणकी नहीं थी। इतनेपर भी उसको गिरगिट होना पड़ा। इसी प्रकार भगवन्नाम बिना भावके लेकर भी गणिका मुक्त हो गई। काशीमें मरने वाले कीट-पतंग तक मुक्त हो जाते हैं। यहाँ भावका प्रश्न नहीं है। कर्म किसी प्रकार हो जाय, इतना ही पर्याप्त है।

इसी प्रकार व्यक्तिके राग-द्वेषसे युक्त कर्म, समष्टिमें व्यापक राग-द्वेषके सूत्रसे सम्बन्ध रखनेसे व्यक्तिके भागमें आये कर्म, व्यक्तिके द्वारा हुए वस्तुके आश्रित रहने वाले कर्म, ये सब मिलकर उसके पुनर्जन्मके कारण होते हैं।

कर्मोंके प्रकार- भेद

पुनर्जन्म कैसा होगा? यह तो जीवके उस कर्म-संचयपर निर्भर है, जो उसने किए हैं या जो किसी कारण कर्म-संचयमें आगये हैं। कर्मके तीन भेद हैं- कर्म, अकर्म और विकर्म। जो कर्त्तव्य है, वह कर्म कहलाता है। इस कर्मके भी तीन भेद हैं- नित्य-कर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म। नित्य-कर्म सन्ध्यादि हैं। इनके न करनेपर पाप होता है; परन्तु करनेपर पुण्य नहीं होता। मनुष्यके वर्ण, आश्रम, शक्तिके अनुसार कर्त्तव्य कर्म भी नित्य कर्म ही कहे जायेंगे। नैमित्तिक कर्म किसी निमित्तके उपस्थित होनेपर किये जाते हैं। जैसे अतिथि-सत्कार, पर्वपर श्राद्ध, ग्रहणमें स्नाना दानादि। निमित्त आनेपर इनको न करनेसे पाप होता है और करनेसे पुण्य। काम्य कर्म वे हैं जो किसी कामनासे किये जाते हैं। जेसे पुत्रेष्टि यज्ञ, व्यापारादि। इनके न करनेपर पाप नहीं होता, करनेपर पुण्य होता है। अकर्म वे हैं जिनके न करनेसे पुण्य नहीं होता, परन्तु करनेसे पाप होता है। कुछ ऐसे कर्म हैं जो परिस्थितिके अनुसार कर्म या अकर्म हो गये हैं। उनका वास्तविक रूप उससे विपरीत था। जैसे असत् पात्रको दान देना, गौ-ब्राह्मण या नारीकी रक्षाके लिए हिंसा। यहाँ दान जो कर्म (सत्कर्म) था, अकर्म हो गया और हिंसा जो अकर्म है, कर्म हो गयी। ऐसे कर्मोंको विकर्म कहते हैं। यह कर्म, अकर्म, विकर्म का भेद शास्त्रके द्वारा होता है। लोकाचार इसका आधार नहीं है। अच्छे विद्वान भी इस सम्बन्धमें सन्देहमें पड़ जाते हैं।

अकर्म (पाप) के प्रत्यक्ष रूपके अतिरिक्त उसके पाँच रूप और हैं। परधर्म, दम्भ, छल, विधर्म और धर्माभास, ये पाँचों अधर्मकी ही शाखाएँ हैं। दूसरेका वर्णाश्रम धर्म दूसरेके लिए परधर्म है। ब्राह्मणका आचार शूद्रके लिए और शूद्रका ब्राह्मणके लिए, संन्यासीका गृहस्थके लिए और गृहस्थका संन्यासीके लिए परधर्म है। हृदयमें धर्म भ4ाव न होनेपर धर्म कृत्यका बाहरी नाटक दम्भ है। मेरी किसी कर्ममें आस्था न हो और मैं दूसरोंको दिखानेके लिए उसे करूँ तो यह दम्भ होगा। दम्भके रूपमें करनेसे न करना श्रेष्ठ है। शब्द जालके द्वारा धर्म-रक्षा मानना छल है। जैसे युधिष्ठिर का 'अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो।'

जो धर्म अपने धर्ममें बाधक हो, वह दूसरेके लिए धर्म होकर भी विधर्म है। जैसे छुआ-छूत धर्म है, परन्तु जिनकी भगवत्प्रसादमें निष्ठा है, उनके लिये प्रसादके सम्बन्धमें छुआ-छूतका विचार विधर्म होगा। अपने धर्मको, अपनी निष्ठाको छोड़कर, किसी दूसरेके धर्म, साधन या निष्ठाको अपनेसे श्रेष्ठ मानकर ग्रहण करनेकी इच्छा करना, यह धर्माभास है। धर्माचरण करनेकी इच्छा रखने वालेको पाँचों अधर्म शाखाओंसे दूर ही रहना चाहिए।

कर्मके कारण

कर्म किस प्रकार होते हैं, यह जाने बिना कर्मोंके सम्बन्धमें आत्मसंयम रखनेका मार्ग हाथ नहीं आता। अतएव कर्मके कारणोंको जान लेना चाहिए। किसी कर्मके पूरा होनेमें पाँच अंग कारण होते हैं। अधिष्ठान, कर्ता, करण, चेष्टा और प्रारब्ध। कर्म जिस स्थान या आधारपर किया जा रहा है, उस आधारकी योग्यता, अयोग्यता, अनुकूलता, प्रतिकूल कर्मके सम्पन्न या असम्पन्न होनेमें कारण होती है। कर्मके लिए पहिले अधिष्ठान-क्षेत्र चाहिए। इसके पश्चात् कर्मको करने वाला चाहिए। कर्म करने वालेका कर्ममें कितना मनोयोग है, वह कितना श्रम करता है, उस कर्मके सम्बन्धमें उसका ज्ञान कितना है- इन सब बातोंपर कर्मका पूर्ण होना या न होना निर्भर है। कर्मके करनेमें अनेक उपकरणोंकी आवश्यकता होती है। बहुतसे लोगोंकी सहायता और अनुकूलता अभीष्ट होती है। मेरे पास लेखनी और स्याही न हो तो कागज और मेरी लिखनेकी योग्यता काम नहीं आवेगी। कर्मके ये चार कारण तो स्थूल हैं और पाँचवाँ कारण प्रारब्ध अदृश्य है। सब साधन होने पर भी कार्य नहीं होता और कभी अयोग्य व्यक्तियोंके अस्त-व्यस्त प्रयत्नसे भी बहुत बड़ा परिणाम होता है। अतएव कर्मके पूर्ण या अपूर्ण होनेमें प्रारब्ध भी कारण होता है, यह स्वीकार करना पड़ता है। प्रत्येक कर्मके सम्पन्न होनेमें ये पाँचों बातें सम्मिलित होती हैं। अतएव कर्ताका यह मानना कि उसीने कर्म सम्पन्न किया, मिथ्या अहंकार है।

प्रकृति स्वभावतः गतिशील है। मनका धर्म चंचलता है। अतएव प्रकृतिमें कोई एक पल भी कर्म किए बिना रह नहीं सकता। कर्म तो करना ही पड़ेगा। प्रकृति त्रिगुणात्मिका है, अतएव समस्त प्राकृतिक कर्म तीन प्रकारके होते हैं। सात्त्विक, राजस और तामस। निष्काम भावसे किये गये कर्म सात्विक हैं। ये जीवकी ऊर्ध्वगतिका कारण होते हैं। फलेच्छासे किये गये कर्म राजस होते हैं।

ये जीवको बार-बार मर्त्यलोकमें पहुँचाते हैं। हिंसादि कर्म तामस हैं। ये अधोगतिके कारण होते हैं।

कर्म तो होंगे ही, क्योंकि कर्म किये बिना रहा नहीं जा सकता। कर्म होते दो प्रकारसे हैं, शरीरकी आसक्तिके कारण और ईश्वरेच्छासे। जितने असत् कर्म हैं, वे शरीरकी आसक्तिसे ही होते हैं। यदि शरीरके प्रति आसक्ति न हो तो पाप होगा ही नहीं। अपनत्व और ममत्व शरीरके सम्बन्धसे ही उत्पन्न होते हैं, और इन्हींसे स्वार्थमें प्रवृत्ति होती है। जब तक शरीरमें आसक्ति है, सदा सत्कर्ममें लगे रहना चाहिए। वैसे जीव इस विश्वमें भगवान्‌की इच्छासे आया है। यदि वह अपने अहंकारको हटा दे तो इस प्रभुके नाटकका एकमात्र पात्र रह जाता है। प्रभु जो करायेंगे, वही उसके द्वारा होगा। ऐसा अहंकार शून्य महापुरुष प्रकृतिके किसी गुणमें स्थित रहनेकी न तो इच्छा करता और न किसी गुणसे पृथक होना चाहता है। 'सब कुछ परमेश्वर ही कराते हैं, उन्हींकी इच्छासे सब होता है।' यह ठीक है परन्तु ठीक है उसके लिए, जिसका अपना कुछ न रह गया हो। जिसमें स्वार्थ, शरीरके सुख-दु:खका भान और उनके मिलने न मिलनेका प्रयत्न है, उनको तो दृढ़तापूर्वक सत्कर्ममें लगे रहना चाहिए। वे प्रयत्न शिथिल करेंगे तो पतन होगा। ध्यान रखना चाहिए कि प्रकाश अपना वास्तविक रूप निर्मल शीशे से ही प्रकट कर सकता है। रंगीन शीशेमें वह रंगीन हो जाता है। भगवदिच्छाके पूर्ण प्राकट्यके लिए निर्मल-वासनाहीन चित्त चाहिए।

कर्म प्रारब्धके अनुसार होते हैं, यह किसी अंश तक ठीक है, किन्तु यह बात जीवके कर्म स्वातन्त्र्यकी विरोधिनी नहीं है। प्रारब्ध जीवके पूर्वकृत कर्मोंका ही परिणाम है। हमारे पूर्वकृत कर्म संस्कार उत्पन्न करते हैं। एक शराबीको समयपर शराब पीनेकी इच्छा होती है। यह इच्छा इतनी बलवान होती है कि वह अपनेको शराब पीनेसे रोक नहीं पाता। उसकी इच्छा चाहे जितनी बलवान हो, शराब पीनेका अभ्यास उसीका डाला हुआ है और बराबर दृढ़ प्रयत्नसे शराब छोड़ी भी जा सकती है, अतएव शराब पीनेका वही अपराधी है। उसे इस कर्ममें स्वतंत्र ही मानना पड़ेगा। यही प्रारब्ध कराता है। प्रारब्धके अनुसार कर्म करनेकी इच्छा होती है। इच्छा बहुत प्रबल हो सकती है; किन्तु वह बराबर प्रयत्न करनेपर दबायी तो जा ही सकती है।

सच्ची बात तो यह है कि कर्म जड़ है। वह स्वयं शुभ या अशुभ फल उत्पन्न करनेमें असमर्थ है। कर्ममें कर्त्तापनके अभिमानके कारण ही जीव उसके फलसे

बंधता है। सृष्टिका एक संचालक है। यन्त्रारूढ़के समान सब प्राणी उसीके संकेतसे घूम रहे हैं। सभी कार्योंका वही संचालक है। जीव कुछ न करता और न छोड़ता। वह जिससे जो कराता है, प्राणी वही करते हैं। लेकिन मैं करता हूँ, इस अहंकारके कारण ही वे कर्मोंका फल भोगते हैं। यह अहंकार ही प्रारब्ध बनाता है। इस सृष्टिके घूमते यन्त्रमें सब अहंकारकी रस्सीसे ही बंधते हैं। यह रस्सी कटते ही वे यन्त्रसे छूट जाते हैं।

एक कर्मके कर्म, परिणाम और कर्त्तव्य ये तीन भाग होते हैं। आपने एक व्यक्तिपर मारनेके लिए लाठी चलाया। उस व्यक्तिका सिर फूट गया। आप दुःखी हैं कि आपने उसे कष्ट दिया। इस कर्ममें लाठीका चलाया जाना तो प्राकृतिक कर्म है। वह समष्टि संचालकका कार्य है। लाठी चलनेपर भी उसका सिर नहीं फूट सकता था। उसका सिर फूटा उसके किसी पूर्वकृत कर्मके परिणामस्वरूप। 'मैंने लाठी मारी' यह आपका कर्तव्य अहंकार आपको इस अपकर्मका संस्कार देता है। इसका फल आपको आगे भोगना होगा। भगवान्ने गीतामें कहा है कि जिसमें कर्तापनका अहंकार नहीं है, जिसकी बुद्धि कर्मसे आसक्त नहीं होती, वह सारे संसारको मार डाले, तो भी हिंसक नहीं है। उसे कोई पाप नहीं होगा।

अहंकारके कारण ही कर्म संग होता है, यह बात इस प्रकार भी स्पष्ट होती है कि हम देखते हैं कि भावके कारण कर्मफल का तारतम्य कम या अधिक हो जाता है। उपेक्षापूर्वक किसी करोड़पति द्वारा किया गया लाखों रुपयोंका दान किसी दीनके भावपूर्वक किये दो पैसेके दानकी समता नहीं कर पाता। क्योंकि जिसका जैसा भाव होगा, चित्तपर उस कर्मका वैसा ही संस्कार पड़ेगा। भावकी यह प्रमुखता उन कर्मोंमें तो है ही जो भावके आश्रित हैं, उन कर्मोंमें भी है,जो वस्तुके आश्रित हैं। अग्निका भावपूर्वक स्पर्श उष्णताके साथ पवित्रता भी देता है। भगवन्नाम भावपूर्वक लिया जाय तो उसका बहुत अधिक महत्व होता है।

कर्म दो प्रकारसे होते हैं-स्वप्रेरित तथा परप्रेरित। जो कर्म अपनी इच्छासे किया जाता है, वह स्वप्रेरित है। उसमें तो कर्तापनका भाव है ही। उसका पूरा उत्तरदायित्व करने वालेपर है। जो कर्म दूसरेकी इच्छासे किया जाता है, उसमें जितनी अपनी इच्छा या अपना स्वार्थ हो, वहाँ तक अपना भाग होता है; दूसरों द्वारा उत्साहित किये जानेपर, दूसरोंके बहकानेसे, गुरुजनों या स्वामीकी आज्ञासे किये गये कर्मोंमें जहाँ तक अपना स्वार्थ या अपनी इच्छा है, उतने अंश तक वह

अपना कर्म है। कोई नौकर यह कहकर छुटकारा नहीं पा सकता कि 'वह अपने स्वामीके लिए घूस लेता है। घूसमें उसका कोई भाग नहीं। उसे यह काम विवशतः करना पड़ता है।' उस स्वामीकी नौकरी करनेमें उसका स्वार्थ है, अतः घूसके पापका एकांश तो उसका भी है ही। कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जो सचमुच विवश होकर होते हैं। वह होते नहीं, बल-पूर्वक करा लिये जाते हैं। जैसे कोई बलवान बलपूर्वक किसीके मुखमें अखाद्य पदार्थ डाल दे। यद्यपि ऐसे कर्मोंमें 'मेरे द्वारा यह हुआ' ऐसी बुद्धि होनेसे उनका कुछ पाप होता है, किन्तु मनमें उसमें जो भयंकर ग्लानि होती है, वही उसका प्रायश्चित्त है। फलतः पूर्णरूपसे परवश स्थितिमें जो कर्म हो जाते हैं, उनका कोई फल उसे नहीं होता, जिसके द्वारा वे हुए हैं।

बालक, पागल, निद्रित अथवा मन्त्रादि प्रयोगसे मूर्छितोंके द्वारा जो कर्म होते हैं, उनके फल उन्हें नहीं होते। इसी प्रकार मनुष्यके अतिरिक्त जितने प्राणी हैं, वे सब भोग-योनिके हैं। वे अपने नैसर्गिक स्वभावसे प्रेरित होकर ही कोई कर्म करते हैं। स्मृति तो उनमें होती है और स्मृतिके अनुसार कर्म भी वे करते हैं। क्योंकि पालतू कुत्ते एक बार किसी अपराधका दण्ड पानेपर प्रायः वह अपराध नहीं करते और पालतू पशु अपने पालकको पहिचानता तथा उसे प्रसन्न रखनेका यत्न करता है। इतना होनेपर भी कोई पशु किसी कार्यमें प्रवृत्ति होनेपर हानि-लाभका विचार करके उससे निवृत्त होनेकी शक्ति नहीं रखता। उसे भय दिखाकर दूसरा ही निवृत्त कर सकता है। इससे यह सिद्ध होता है कि पशु-चित्त केवल स्मृतिरूप संस्कार ग्रहण करता है। प्रेरणात्मक संस्कार वह ग्रहण नहीं करता। स्मृतिरूप संस्कार उसकी प्रकृतिको एक सीमा तक प्रेरित तो कर सकते हैं, उसी प्रकार जैसे कहीं प्यास लगनेपर पासके सरोवरका स्मरण हमें उधर ले जाता है, परन्तु स्मृतिरूप संस्कारोंमें फल उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं होती। फल तो अहंकारपूर्वक किये कर्मका होता है। कोई पशु कर्म करके यह अनुभव नहीं करता कि उसने अच्छा या बुरा कर्म किया है। यह दूसरी बात है कि बालकके समान उसे किसी कर्मसे पालकसे पुरस्कार तथा किसीसे भय प्रतीत होता है। यह तो उसके स्मृति संस्कारका ही फल है। इसीसे पशु अपने कर्मोंका उत्तरदाता नहीं माना जाता।

सीधी बात यह है कि कर्म जड़ है। शरीर जड़ है। जड़के कर्म तो सृष्टि संचालककी इच्छासे ही होते हैं। एक पत्थर वायुके वेगसे ढुलक पड़ा और उससे

एक कीड़ा कुचल गया। इसमें कर्म तो हुआ, हिंसा भी हुई। परन्तु कर्त्ता कोई नहीं। अतएव फलभोक्ता भी कोई नहीं। शरीर भी पत्थरके समान ही जड़ है। शरीरके कर्म भी प्राणात्मक वायुकी गति पाकर, त्रिगुणात्मक प्रकृति द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। मन भी प्राकृत है- जड़ है। अतः इस जड़के कर्मका प्रेरक सृष्टि संचालक ही है। जीवका अहंकार ही उसे कर्मके संस्कार देता है। कर्तापनके मिथ्या अहंकारके कारण ही वह उनका फल भोगता है।

कर्म-विधान

हमारे शरीर द्वारा सृष्टि नियन्ताकी प्रेरणासे एक कर्म होता है। हम न चाहते, तब भी वह वैसा ही होता। 'कर्तुंनेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्' (गीता-१८/६०) भगवान्ने बताया है कि मोहवश जिसे करना नहीं चाहते, उसे विवश होकर करोगे। विश्वमें विश्व-नियन्ताकी इच्छाके बिना एक पत्ता तक नहीं हिलता। सब प्राणी उसके इस महानाटकके पात्र हैं। सब यन्त्र हैं। वही सबको चला रहा है। अतएव कर्म तो वह कराता है पर हम मान लेते हैं कि हमने किया, फलतः उस कर्मका चित्तपर संस्कार पड़ जाता है। यही संस्कार पुनः फल उत्पन्न करता है।

चित्त पर संस्कार पड़ते रहते है। हम वर्तमानमें जो कर्म करते हैं, उसका जो कर्तापन का संस्कार चित्तपर पड़ता है, वह क्रियमाण कहा जाता है। वह आगे कभी फल देगा। हमारे कर्मका जो फल होता है, वह इस कर्मका फल नहीं है। वह प्रारब्धके अनुसार किसी पूर्वकृत कर्मका फल है। इस प्रकार जीवनमें हानि-लाभ, सुख-दुःख, यश-अपयश, जन्म-मृत्यु आदि जो परिणाम हैं, वे प्रारब्धके अनुसार होते हैं। वर्तमान कारणरूप कर्म न होनेपर भी वैसे ही होते। वर्तमान कर्म क्रियमाण है। उनके संस्कार चित्तमें एकत्र होते जाते हैं आगे फल देनेके लिए। इस प्रकार अपने और अपने हिस्सेमें आये राग-द्वेषके सूत्रसे दूसरोंके कर्मांशके संस्कारोंकी पूरी ढेरीको संचित करते हैं। यही जीवका कोष है। सञ्चितसे जितने कर्मसंस्कार पृथक होकर हमारे इस जीवनके कारण हुए हैं, उन्हें प्रारब्ध कहते हैं। उन प्रारब्ध, कर्मोंके अनुसार इस जीवनमें हमें सुख-दुख भोगना है। प्रारब्धके साथ ही यह जीवन समाप्त हो जायेगा।

कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनके फल सञ्चितमें न जाकर प्रारब्धमें ही सम्मिलित हो जाते हैं और इसी जन्ममें फल देते हैं। अत्यन्त उग्र पाप या पुण्य

तीन वर्ष, तीन महीने, तीन पक्ष या तीन दिनके भीतर ही कर्म-फल प्रकट कर देते हैं, ऐसा ऋषियोंका मत है। कोई पाप कर्म हो जानेपर शास्त्रीय विधानसे उसका प्रायश्चित कर देनेपर सञ्चितसे उसके संस्कार मिट जाते हैं। यह इसी प्रकार होता है, जैसे- असंयमसे रोग होते हैं और विधिवत चिकित्सासे वे चले जाते हैं। तीर्थोंमें, भगवन्नाममें, भगवान्‌के श्रीविग्रहोंमें, महापुरुषोंमें ऐसी स्वाभाविक शक्ति है कि उनके दर्शन, संगादिसे कलुष नष्ट हो जाते हैं। उनका प्रभाव चित्तपर ऐसा पड़ता है कि वहाँके बुरे परिणाम प्रकट करनेवाले सब संस्कार मिट जाते हैं। इसी प्रकार सकाम कर्म यदि विधिपूर्वक हों तो उनके संस्कार भी प्रारब्धमें सम्मिलित होकर तुरन्त फल देते हैं। कामना पूर्ण होती है।

चौरासी लक्ष योनियोंमें-से केवल मनुष्य ही कर्म-योनिका प्राणी है। शेष सब भोग-योनिके प्राणी हैं। मनुष्य-जीवनके कर्म ही संस्कार निर्माण करते हैं। वही संस्कार सञ्चितमें सम्मिलित होते हैं। उन्हींके अनुसार फिर जीवको नाना योनियोंमें जाना पड़ता है। एक क्षणमें मनुष्य इतना बड़ा पुण्य या पाप कर लेता है कि उसका फल भोगनेके लिए उसे सहस्त्रों वर्ष स्वर्ग या नरकमें रहना पड़ता है। ऐसे बड़े, दीर्घकालीन भोग देनेवाले कर्म मनुष्य करता ही रहता है, अतः मनुष्यके एक जीवनके कर्म उसे कितने जीवनोंमें और कब तक भोगने होंगे, इसका कुछ निश्चय नहीं ।

मनुष्य योनि ही कर्म-योनि है, अतः मनुष्य जीवनकी समाप्तिपर आगेके भोग निश्चित हो जाते हैं। मनुष्य मृत्युके समय जो भाव लेकर शरीर छोड़ता है, उसका वह अन्तिम भाव ही आगेके जीवनका निर्माण करता है। सञ्चितमें से उस भावके अनुसार कर्म एकत्र होकर उसे अगला जन्म देते हैं। जैसे किसी के मनमें माँस खानेकी इच्छा थी और यह इच्छा लेकर ही शरीर छूटा। मांसाहारी गीध, कुत्ते, कीड़े बहुत जीव है। उसके सञ्चितमें जो कर्म हैं उनके अनुसार उसे जो जन्म मिल सकता होगा, वह मिलेगा। लेकिन वह अन्तिम संस्कार प्रमुख रहेगा। मिलेगी उसे कोई मांसाहारी जीवकी योनि ही।

इस प्रकार सञ्चितसे केवल एक प्रारब्ध नहीं बनता। मनुष्य जीवनके अन्तिम संस्कारको मुख्यता देकर एक प्रारब्ध बनता है, फिर उससे सामञ्जस्य रखते हुए दूसरा बनता है। इस रीतिसे वहाँ तक प्रारब्ध बनते जाते हैं, जहाँ तक जीवको फिर मनुष्य-योनि प्राप्त होनेवाला प्रारब्ध न बन जाय। क्योंकि भोग-योनियोंमें तो जीवको केवल कर्म-फल भोगने हैं। उसे कोई संस्कार तो

सञ्चितमें बढ़ाना नहीं है। अतएव भोग-योनियोंके प्रारब्धोंकी एक श्रृंखला बन जाती है, जो मनुष्य योनिका प्रारब्ध लेकर समाप्त होती है। यद्यपि यह निश्चित है कि मनुष्यमें जीव कौन-कौनसे कर्म करेगा और कौनसे फल भोगेगा; क्योंकि कर्म तो जगन्नियन्ताकी इच्छासे उसे करना है और फल प्रारब्धके अनुसार भोगना है; परन्तु यह नहीं निश्चित रहता कि मनुष्य-योनिमें वह कौन-सा कर्म किस भावसे करेगा और उनसे कैसे संस्कार प्राप्त करेगा, अतः आगेका प्रारब्ध उस समय नहीं बन सकता। मनुष्यकी मृत्युके समय उसके अन्तिम संस्कारकी प्रमुखतामें यह तभी निश्चय हो जाता है कि वह किन-किन योनियोंमें होता कब पुनः मनुष्य होगा।

कर्म सब भगवान्‌की प्रेरणासे होते हैं, अतः फल भागी जीवको न होना चाहिए। जीव उनमें कर्तृत्वका अहंकार करके फल भागी होता है और फल भोगता है। कर्मके नियंताका वह न्याय है। इसीलिए भगवान् न्यायकर्ता कहे जाते हैं। उनकी सृष्टिमें कुछ नष्ट नहीं होता। यहाँ तक कि जो मुक्तात्मा हैं, उनके कर्म भी नष्ट नहीं होते। जो उनकी सेवा, सम्मान करते हैं, जिनके राग-सूत्र उनसे सम्बन्धित हैं, उन्हें उनके पुण्यकर्म और जिनके द्वेष सूत्र-सम्बन्धित हैं, जिनके द्वारा उनका अपमान, निन्दा या उन्हें क्लेश होता है, उन्हें उनके अपकर्मोंकी प्राप्ति हो जाती है।

भगवान् न्यायकर्ताके साथ परम दयालु कहे जाते हैं और प्रत्येक जीवपर उनकी अहैतुकी कृपा बताई जाती है। जब जीवको अपने कर्म-फल ही भोगने हैं तो भगवान्‌की इसमें दयालुता क्या? सच बात तो यह है कि इस संसार, इसके कर्म, इसका संचालन, यह सब भगवान, जीवोंके विनोदके लिए ही करते हैं। जैसे- माता बच्चोंके खेलनेके लिए उनके जैसे साथी और खिलौने एकत्र कर देती है, वैसे ही भगवान्‌ने जीवोंके विनोदके लिए यह खेल उपस्थित किया है। उन आत्माराम पूर्णकामको इसका कोई प्रयोजन नहीं।

प्रारब्धके विधानमें, संस्कारोंकी रचनामें, सब कहीं भगवान्‌की दया स्पष्ट है। संस्कारोंका स्वभाव ही लीजिये! आप नवीन बातें स्मरण रखते हैं और पुरानी भूलते जाते हैं। मन संस्कारोंमें पहिले उसीको पाता और जागृत करता है, जो सबसे ऊपर है। जैसे किसी माल गोदाममें वह माल पहिले मिलेगा, जो सबसे पीछे भरा गया होगा; क्योंकि वही द्वारके सम्मुख होगा। इसी प्रकार नवीन कर्मोंके संस्कार प्राचीनको दबाते जाते हैं। इसका अर्थ यह है कि हमने पहिले चाहे जो

किया हो, परन्तु हमें सदा अवसर है कि हम नवीन शुभ प्रयत्नमें लगें और प्राचीनको पीछे डाल दें। हमारे लिये उन्नतिका द्वार सदा उन्मुक्त है।

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेत सनेही॥

हमें प्रारब्धानुसार जो मनुष्ययोनि मिलती है, उसमें भी भगवान्‌का अहैतुक स्नेह ही प्रकट होता है। ऊपर कह आये हैं कि मनुष्य के जीवनके अन्तमें जो संस्कार उठता है, उसे प्रधानता देकर प्रारब्धोंकी एक श्रृंखला बनती है जो मनुष्य जीवनपर समाप्त होती है। हमारे संचितमें जन्म-जन्मान्तरके अपार संस्कार हैं, अतः श्रृंखला कितनी लम्बी बनेगी, इसका कुछ ठिकाना नहीं। लेकिन भगवदीय विधान ऐसा है कि श्रृंखला जितनी छोटी बन सकती है, उतनी छोटी ही बनती है। अन्तिम संस्कार-को प्रधानता देकर भोग-योनियोंके प्रारब्ध इस प्रकार एकत्र होते हैं, जिससे निकटसे निकट मनुष्य-योनिका प्रारब्ध आवे। इसका अर्थ है कि भगवान् बार-बार जीवको अवसर देते हैं कि वह भक्तिका प्रयत्न करे और संचितके दूषित संस्कारोंको नष्ट कर सके।

कर्म-फलकी पद्धति

'गहना कर्मणो गतिः' कर्मकी गति अत्यंत गम्भीर है। किस कर्मका क्या फल होगा, यह बताना सरल नहीं है। इतनेपर भी कुछ नियम तो हैं ही। कर्मके फलका नियम बहुत कुछ प्रतिध्वनि या प्रतिक्रियाके समान है। जैसे आप एक गेंद एक दीवालपर मारते हैं। गेंद जितने वेगसे दीवालसे टकरायेगा, उतनेही वेगसे आपकी ओर लौटेगा। इसी प्रकार कर्मकी प्रतिक्रिया होती है। आपने दूसरोंको विद्यादान की है तो आपको विद्या प्राप्त होगी। आपने दूसरों को धनहीन किया है तो आप निर्धन होंगे। आप बच्चोंको प्रसन्न करते हैं तो दूसरे जन्ममें आपको बच्चे मिलेंगे और वे आपको प्रसन्न करेंगे।

प्रतिक्रियात्मक गतिके साथ कर्मफलमें योग्यता और उपयोग भी फल देता है। आपको भगवान्‌ने बुद्धि, बल, शक्ति, धन दिया। आप इनका सदुपयोग करेंगे तो आप इनके अधिकारी सिद्ध होंगे। ये आपको और अधिक मिलेंगे। आप इनका दुरुपयोग करेंगे अपनेको अनाधिकारी सिद्ध करेंगे और ये आपसे छीन लिये जावेंगे। जो जिस वस्तुका सदुपयोग करेगा, वह उसीको अधिक मिलेगी और जो जिस वस्तु या शक्तिका दुरुपयोग करेगा, वह उससे छीन ली

जायेगी। दुरुपयोग दो प्रकारसे होता है। अनावश्यक उपयोग या अयुक्त उपयोग तथा आवश्यक उपयोग न करना।

स्थान, काल, पात्र, अवस्थाके अनुसार एक ही कर्मका महत्व घट या बढ़ जाता है और उसीके अनुसार उस कर्मका फल भी होता है। एक गरीबके लिए दो पैसेका जो महत्व है, एक धनीके लिए सहस्त्रों रुपयोंका नहीं है। मरुस्थलमें दो लोटे जलका जो महत्व है, गंगा किनारे दो कुओंका भी वह महत्व नहीं। एक व्यक्तिको उसकी संकटकी स्थितिमें आश्वासनके वचन इतनी सहायता देते हैं, जितनी सहायता उसकी साधारण स्थितिमें उसके लिए बहुत कष्ट उठानेसे भी नहीं होती। प्रत्येक कर्मकी गति इस प्रकार घट-बढ़ जाती है। कर्ताका भाव शुद्ध है पर उसके द्वारा दिया गया एक सच्चे भूखेको दो पैसा और नकली भिक्षुकको दिया दो पैसा समान महत्व नहीं रखता।

कर्म फलके सम्बन्धमें यह ध्यान रखना चाहिए कि कर्मोंका नाश नहीं होता। आपने एक पापकर्म किया और एक पुण्यकर्म, तो पुण्यकर्म पापकर्मके फलको नष्ट नहीं कर देगा। इसी प्रकार कोई पापकर्म किसी पुण्यकर्मके फलको नष्ट नहीं करेगा। दोनों कर्मोंके संस्कार संचितमें रहेंगे और दोनों कर्मोंके फल स्वतंत्र भोगने होंगे। जैसे एक ही रिकार्डपर गाली और स्तुतिके शब्द भरे जायं तो वे एक दूसरेको मिटा नहीं देंगे। दोनों पृथक-पृथक सुनाई देंगे।

प्रायश्चित कर्म इस नियमके अपवाद स्वरूप है। वे पापकर्मके कुपरिणामको नष्ट कर देते हैं। काम्यकर्म ऐसे नहीं है। वे तो नूतन पुण्यकर्म हैं जो प्रारब्धमें सम्मिलित होकर फल देते हैं। ऋषियोंने विशेष पापों के लिए विशेष प्रायश्चित निश्चित किये हैं। संकल्पपूर्वक उस पाप-परिणामको नष्ट करनेके लिए वही प्रायश्चित करना पड़ता है। यदि पुण्य-कर्मोंसे पापकर्मोंका नाश होता तो विशेष पापके लिए विशेष प्रायश्चित विधानकी आवश्यकता न होती।

नियम यह है कि यदि गतिको रोकने वाली शक्ति न हो तो गति बराबर बनी रहेगी। हमारे कर्मोंके लिए कोई निरोधिका-शक्ति तो है नहीं। अतएव हम जैसे कर्म करते हैं, उनके संस्कार वैसी ही प्रतिक्रियात्मक गति उत्पन्न कर देते हैं। इस प्रकारके कर्म-चक्रमें जीव पड़े हैं। बार-बार कर्म और बार-बार फल भोग। यह जन्म-मरणका चक्र समाप्त ही नहीं होता। यह तो सतत् प्रयत्नसे ही समाप्त हो सकता है। कर्म संस्कारका निरोधक-प्रयत्न इसके लिए आवश्यक है।

पुनर्जन्मके प्रमाण

कर्मके अनुसार पुनर्जन्म होता है, यह बात अब सिद्ध हो चुकी है। अनेक बालक ऐसे हुए हैं; जिन्होंने अपने पहिले जन्मका हाल बतलाया। है। पहिले जन्मसे सम्बन्धित स्थानों और व्यक्तियोंको पहिचान लिया है। कुछ ऐसी बातें बताई हैं जो गुप्त थीं। इन बच्चोंको देखकर स्पष्ट हो जाता है कि पुनर्जन्म होता है। ऐसे बच्चे जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं, वैसे-वैसे पूर्व जन्मकी स्मृति भूलते जाते हैं। योग दर्शनका सिद्धांत है कि 'अपरिग्रह स्थैर्ये जन्मकथा सम्बोध:।' पूर्णरीतिसे अपरिग्रह होनेपर पूर्वजन्मका ज्ञान हो जाता है। वैराग्य, रोग आदि- किसी कारणसे मृत्युके समय यदि किसीको सभी पदार्थोमें अरुचि हो जाती है तो उसे दूसरे जन्ममें पूर्वजन्मकी स्मृति रहती है। जैसे-जैसे बच्चेकी आसक्ति पदार्थोंमें होती जाती है, उसका पूर्वजन्मका ज्ञान लुप्त होता जाता है। यदि इस जीवनमें ही सारे पदार्थोंसे अरुचि, अनाशक्ति होकर पूर्णत: अपरिग्रह हो जाय तो पूर्वजन्मका ज्ञान हो सकता है।

बच्चोंके सम्बन्धमें प्राय: यह देखा जाता है कि कोई बालक यह नहीं बताता कि मैं पूर्व जन्ममें पशु था। इस कारण थियासोफिस्ट-मतने मान लिया कि मनुष्य मरनेके पश्चात् मनुष्य ही होगा। यह मान्यता दोष पूर्ण है। अपरिग्रहकी स्थिरता मनुष्य जीवनमें ही सम्भव है। दूसरी योनियाँ तो भोगयोनि हैं। अतएव अपरिग्रहके कारण पूर्व जन्मका ज्ञान मनुष्यको ही सम्भव है। जो पहिले मनुष्य थे और कारणवश मरणके समय उनमें अपरिग्रह पूर्ण हो गया, उन्हींको इस जन्ममें पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। यदि इस जन्ममें वे मनुष्य हुए तो उनके ज्ञानका हमें पता लगता है। यदि वे इस जन्ममें मनुष्य न हुए तो उन्हें पूर्वजन्मका ज्ञान तो होता है, पर उसे हम-आप जान नहीं सकते। जो पूर्व जन्ममें पशु थे उनके लिए अपरिग्रह सम्भव नहीं। अतएव इस जन्ममें मनुष्य होनेपर भी उनको पूर्व-जन्मका ज्ञान न होगा। योगके द्वारा मनमें संयम करके भी पूर्व-जन्मका ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार जिसे पूर्व जन्मका ज्ञान होगा, वह अपने पूर्वके पशुजन्मोंको भी जान सकेगा। जड़भरतकी कथा इसका प्रमाण है। बच्चे योगी नहीं होते। आजके समाजमें योगसे अपरिग्रह स्थैर्य दुर्लभ है। वह रोगादि कारणवश ही होता है। अतएव आज ऐसे ही बच्चे पूर्व-जन्मका वृत्त कहने वाले मिलते हैं, जो पहिले भी मनुष्य ही थे।

मनुष्य-बालकोंमें अनेक विशेषताएँ मिलती हैं। चार, छ:, आठ स्तनों वाली

नारियाँ, सींगधारी या पूंछवाले बालक भी यदाकदा हो जाते यह चिह्न है कि मनुष्यका वह बालक उस जीव योनिसे मनुष्य योनिमें आया है, जिसके चिह्न उसमें हैं। ध्यान रखना चाहिए कि यह चिह्न इस बातका नहीं है कि मनुष्य बन्दर तथा पशुओंसे विकसित होकर बना है। क्योंकि बन्दर या किसी पशुमें दूसरे पशुके चिह्न कभी प्रकट नहीं होते मनुष्य किसी भोगयोनिसे मनुष्ययोनिमें आ सकता है, इसीसे उसमें किसी योनिके चिह्न प्रकट हो जाते हैं।

मनुष्यमें जो प्रतिभाका अन्तर है, वह भी उसके पूर्वजन्मको सूचित करता है। बहुतसे लड़के अत्यल्प अवस्थामें अद्‌भुत ज्ञानका परिचय देते हैं। कुछ इतने मंदबुद्धि होते हैं कि बहुत दिनोंके श्रमसे थोड़ी बात सीख पाते हैं। यह पूर्वजन्मका संस्कार ही उनमें प्रकट होता है। नियम यह है कि ज्ञान नष्ट नहीं होता। स्मृतिका कहना है कि मनोयोग पूर्वक सौ बार पाठ करनेसे एक बात स्मरण हो जाती है। एक सहस्त्र बार पाठ कर लेनेपर जीवनमें फिर भूलती नहीं। यदि एक लाख बार किसी ग्रन्थ या मन्त्रकी मनोयोग पूर्वक आवृत्ति की गई है तो उसका स्मरण परलोकमें भी रहता है। वह दूसरे जीवनमें भी स्मरण रहती है। इतनी आवृत्ति न होनेपर भी कुछ अंश तो उसका रहता ही है। यह प्रतिभाका तारतम्य पूर्व-जन्मके ज्ञानका फल है।

जन्मसे छूटनेके उपाय

जीवन-मरणके इस चक्करसे छुट्टी कैसे मिले? शास्त्रों ने कहा है- 'ऋते ज्ञानान्मुक्ति' ज्ञानके बिना इस चक्करसे छुटकारा नहीं। ज्ञान दो प्रकारका हो सकता है। एक ज्ञान तो इस प्रकारका कि यह सब दृश्य प्रपंच भ्रम है। एक ही परिपूर्ण सत्ता है। जैसे पेड़की छाया पेड़ नहीं है, वैसे ही दृश्य जगत् सत्य नहीं है। इस प्रकार अपरोक्ष आत्म-साक्षात्कार या इस विश्वासमें दृढ़ निष्ठा कि कर्म सब जगन्नियन्ता ही कराते हैं। दोनों प्रकारसे अहंकारका नाश होनेसे पुनर्जन्म नहीं होता। संचितके संस्कार चित्तपर हैं। वे संस्कार अहंकारसे ही जागृत होते हैं। अहंकार न होनेपर तो वे बनेंगे और न जागृत होंगे।

ब्रह्मात्मैक्य भावके निदिध्यासनसे अपरोक्ष साक्षात् या भावकी परिपक्वावस्थामें भगवद्दर्शन, दोनों ऐसी स्थितियाँ हैं कि इनका जब उद्‌भव होता है; चित्त पूर्णतः द्रवित हो जाता है। अमायिक तत्त्वकी अनुभूति द्रवित-चित्तमें ही होती है। चित्तके पूर्णतः द्रवित होनेसे पूर्व यह स्थिति नहीं

आती। चित्तके द्रवित होनेसे उसपरके सब संस्कार मिट जाते हैं। संचितका नाश हो जाता है। इस स्थितिमें यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म समष्टिकी प्रेरणासे होते हैं। अतएव कर्मोंमें कर्तृत्वका अहंकार नहीं रह जाता। अहंकारके अभावमें आगे कर्म-संस्कार नहीं बनते। रह जाता है केवल प्रारब्ध। वह शरीरके साथ समाप्त हो जाता है। ऐसे मुक्तात्मा भी प्रारब्धके सुख-दुखः पाता है और उसके अनुसार चेष्टा भी करता है। यह तो एक क्षणके लिए आत्मदर्शन या भगवद्दर्शनका फल है। यदि मन वहाँ प्रगाढ़तासे लगा रहे तो प्रारब्ध भी प्रभावित होता है। वह भी नष्ट हो जाता है। शरीरको यदि मनका संयोग न मिले तो वह चल नहीं सकता। शरीरमें जीवके तादात्म्यसे ही जड़ शरीरमें जीवन है। जो महापुरुष अपनी एकाग्र स्थितिसे उठते ही नहीं, उन सप्तम भूमिके पुरुषोंका शरीर इक्कीस दिन बाद छूट जाता है। जैसे एक बार धक्का देनेपर कुम्हारका चाक कुछ देर घूमता है, वैसे ही मनके एक बारके सहयोगसे शरीरमें इक्कीस दिनके लिए जीवनी- शक्ति मिलती है। इस अवधिमें शरीरका भान न जागृत हो तो शरीर आगे नहीं टिक सकता।

ज्ञान या भगवद्दर्शन के इस मार्गके अतिरिक्त एक मार्ग मुक्तिका और है। अन्तिम समय किसी प्रकार भगवन्नाम भगवत्स्मृति आ जाय या भगवद्धाममें मृत्यु हो। ये वस्तु आश्रित कर्म हैं। भगवान्‌का नाम, रूप, लीला, धाम, ये चारों भगवत्स्वरूप मायाके सर्वथा विरोधी एवं चिन्मय हैं। अतएव अन्तिम समय इनमेंसे किसी एकका साहचर्य जीवको मुक्त कर देता है। नियमतः भी ऐसा ही होना चाहिए। जीवके अन्तिम संस्कारके अनुसार ही उसके प्रारब्धका निर्माण होना है। अन्तिम संस्कार यदि अमायिक है तो मायिक-संस्कारोंसे उसका सामञ्जस्य होना नहीं है। अतएव प्रारब्ध बन नहीं सकता। यह दूसरी बात है कि मृत्युके समय जान बूझकर कुछ किया नहीं जा सकता। उस समय बुद्धि मूर्छितप्राय रहती है। उस समय तो वही स्मरण आवेगा जो मनमें स्वभावतः आनेका अभ्यस्त है। आप स्वप्नमें जो सोचते हैं, प्रयत्नके बिना आपके मनमें जो स्वतः आता है, वही मृत्युके समय भी आवेगा। मृत्युके समय जो संस्कार आप लाना चाहते हैं, उसे जीवनमें अभ्यास बना लीजिये। अभ्यासके द्वारा वह स्वभाव हो जायेगा तो अवश्य मृत्यु समयमें आ जायेगा।

मुरारिके तीसरे मार्ग की बात हम पहिले कह आये हैं। जो अपनेको सर्वथा परमात्मापर छोड़ चुका है, उसकी बात दूसरी है। वह मृत्युके समय आराध्यको

स्मरण न कर सकेगा तो आराध्य स्वयं उसका स्मरण कर लेंगे, ऐसे लोग इस जगतमें होते हुए भी इस जगतके प्राणी नहीं होते। वे भाव-जगतके दिव्य प्राणी हैं। इसकी यही पहिचान है कि उनमें अपना कुछ नहीं है। जो है, वह प्रभु है। प्रभु के लिए ही अपना अपनत्व भी है ।

पुनर्जन्मसे मुक्त होनेके ये मार्ग तो हैं, परन्तु सर्व-साधारण इस उच्च स्थिति तक पहुँचनेकी आशा नहीं करते। हम इस स्थिति तक पहुँच नहीं सकते। यह समझकर निराश होनेकी कोई आवश्यकता नहीं। भगवान्ने गीतामें बताया है कि कल्याण-पथके पथिकका विनाश नहीं होता। वह अनेक जन्मोंमें अपने मार्गमें अग्रसर होता हुआ लक्ष्य तक पहुँच ही जाता है। जिसने अध्यात्म पथकी ओर बढ़नेका निश्चय कर लिया, वह चाहे जितना बड़ा पापी रहा हो, अब उसे साधु ही समझना चाहिए। आध्यात्मिक साधनाका स्वल्प प्रयत्न भी अन्तमें जन्म-मरणके महाभयसे त्राण दे देता है।

प्रारब्ध विधानमें बता आये हैं कि अन्तिम संस्कारको प्रधान मानकर प्रारब्ध बनते हैं और उनकी श्रृंखला छोटीसे छोटी, जितनी सम्भव हो बनती है। जो साधक हैं, उसका साधन तो मनुष्ययोनिमें ही हो सकता है। इसी प्रकार सत् कर्मके संस्कार भी पुण्ययोनियोंके बाद मनुष्ययोनि देते हैं। इस जीवनमें साधन थोड़ा हुआ, क्योंकि पुराने संस्कार बाधा देते थे। अब जब दूसरा प्रारब्ध बनेगा, नियमानुसार साधनके संस्कार, सत्कर्मके संस्कार तो उसमें आ जायेंगे और दुष्कर्मोंके खराब संस्कार संचितमें छूट जायेंगे। साधकको अधिक अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होगी। पूर्व-जन्मका साधन उसे पुनः साधनमें प्रवृत्त करेगा। इस प्रकार साधककी निरंतर उन्नति ही होती है।

एक शंका होती है - अब सब कर्म ईश्वर ही कराता है तो इस साधनका क्या अर्थ? शास्त्रोंके विधि-निषेधका क्या महत्व? बात यह है कि कर्म करानेमें ईश्वरकी कोई आसक्ति नहीं है। प्रत्येक कर्ममें भाव करनेके लिए हम स्वतंत्र हैं। सृष्टिके कर्म तो निश्चित हैं, पर वे किसीके द्वारा भी पूर्ण हो सकते हैं। एक व्यक्ति रोगको दुःख मानकर रोता है और दूसरा उसमें तपकी भावना करता है। दुखी होने वालेको तो दुःख ही मिला; किन्तु तपकी भावना करने वालेको तपका पुण्य भी हुआ। उसने सिद्ध कर दिया कि वह सुखका अधिकारी है। अतः तपके पुण्यसे आगे उसे सुख प्राप्त होगा। लोकमें भी हम देखते हैं कि हमारे अनेक कार्य

हैं। सब कार्य आवश्यक हैं और सब पूरे किये जावेंगे; पर जो सेवक जिस योग्य हैं, उसे उसी कार्यमें लगाया जावेगा। अपने कार्यमें यदि वह अधिक योग्य सिद्ध हो तो आगे उसे उससे अच्छा कार्य मिलेगा और अयोग्य सिद्ध हो तो निम्न कोटिका कार्य। जीव भी जब अच्छे कार्य करनेकी इच्छा और चेष्टा करता है तो सृष्टि-कर्त्ताकी ओरसे उसे इसके लिए अवसर मिलता है। भगवान्‌ने बताया है कि जो जैसा कार्य करना चाहता है, मैं उसकी श्रद्धा वहीं दृढ़ कर देता हूँ। अतएव कार्यमें भाव करनेमें, प्रयत्न करनेमें तो हम स्वतंत्र हैं ही। हमारी यह स्वतंत्रता क्रमोन्नतिसे हमें कर्म-चक्रसे ही स्वतंत्र बना देती है।

इस प्रकार हिन्दू शास्त्रोंने पुनर्जन्मका सम्यक् विवेचन किया है। यह पुनर्जन्म सिद्धांत हमें बतलाता है कि विश्वके समस्त प्राणी हमारे स्वजन हैं। हम कब किस योनिमें, किस कुलमें थे, यह पता नहीं। आज जिन्हें हम शत्रु, सेवक, हेय या तुच्छ समझ रहे हैं, अगले जन्ममें वही हमारे माता-पिता, स्वजन हो सकते हैं। समस्त प्राणियोंमें एक ही समान जीवन-तत्व है। सब एक ही विश्व परिवारके सदस्य हैं। विश्व बन्धुत्वकी इससे पुष्ट प्रेरणा और किसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकती।

हमारे सम्मुख ही अनन्त जीव हैं। वे कष्ट पा रहे हैं। उनके पास अपने अभाव दूर करनेका कोई साधन नहीं। ये कीड़े, ये दर-दर भटकते कुत्तें, ये गाड़ीमें पिसते बैल, ये सब प्राणी किसी दिन मनुष्य थे। अपने ही कर्मोंसे उन्हें ये योनियाँ मिली हैं। हम कर्मयोनिमें हैं। हमारे लिए अवसर है। यदि हमें भी इनमें-से ही कुछ नहीं होना है तो हमको सावधानीसे असत्कर्मोंसे बचना चाहिए। सत्कर्ममें ही लगे रहना चाहिए। मनुष्यके सद्‌गुणोंके लिए इतना सुदृढ़, प्रत्यक्ष, प्रेरणात्मक आधार पुनर्जन्मवादको छोड़कर दूसरा हो नहीं सकता।

●●

अधर्म जो धर्म जान पड़ता है

विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमा छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्॥

(श्रीमद्भागवत ७/१५/१२)

अनेक बार ऐसा होता है कि मनुष्य कोई कार्य धर्म समझकर करना चाहता है; किन्तु वह उसके लिए धर्म होता नहीं है। ऐसा भ्रम कहाँ-कहाँ होता है, इसके लिए देवर्षि नारदने अधर्मकी पाँच शाखाएँ बतलायी हैं—

स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः।

अपनी योग्यता, रुचि, सामाजिक परिस्थिति के अनुसार जो अपना धर्माचरण एवं साधनका अधिकार है, उसमें निष्ठा-दृढ़ताका होना ही गुण कहा गया है। उसके अनुसार आचरण ही अपने लिए धर्म है।

धर्मबाधो विधर्मः स्यात्।

अपने धर्माचरणमें, अपने साधनमें जो बाधा डालता हो, वह अपने लिए विधर्म है। भले वह आचरण वह साधन बहुत श्रेष्ठ हो, बहुत श्रेष्ठजन उसका आचरण भले करते हों, शास्त्रोंमें भले ही उसकी बहुत प्रशंसा हो; किन्तु यदि वह अपने अधिकार-प्राप्त धर्ममें बाधा देता है तो अपने लिए अधर्म है।

उदाहरणके लिए देश-रक्षाके लिए सीमापर नियुक्त सैनिक हैं। उनका धर्म है सतत् सावधानीपूर्वक देशकी रक्षा करना और यदि शत्रु आक्रमण करे तो उन पर पूरी शक्तिसे आघात करना। शत्रुने आक्रमण किया और उसी समय कोई शत्रुका गुप्तचर साधुका वेश बनाकर देशके सैनिकोंको उपदेश करे-'अहिंसा परमो धर्मः' तो यद्यपि अहिंसा परम धर्म है, यह बात ठीक है और यह बात भी ठीक है कि अहिंसाकी महिमा संतों तथा शास्त्रोंने बहुत गायी है; किन्तु उस समय सैनिकोंके शत्रुपर आघात करने रूप स्वधर्ममें बाधक होनेके कारण अहिंसा उन सैनिकोंके लिए उस समय विधर्म-होनेसे अधर्मकी शाखा है।

अर्जुन युद्धक्षेत्रमें पहुँचकर जब कहने लगे—

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्॥

(गीता १/४५)

तब अर्जुनके लिए यह युद्ध- त्यागका भाव 'विधर्म' ही था। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्णने गीताका उपदेश करके अर्जुनको उसके वास्तविक कर्त्तव्यपर स्थिर किया।

देश, काल, पात्र तथा अवस्थाके अनुसार धर्मसम्मत कर्त्तव्यका निश्चय होता है। इस प्रकार निश्चय हुए कर्त्तव्यमें जो कोई भी भाव या कार्य बाधक होता हो वह धर्म जान पड़े, तब भी समझना चाहिए कि जहाँ अधर्म धर्म जान पड़ता है। यह विधर्म है और अधर्मके समान ही त्याज्य है।

परधर्मोऽन्यचोदितः।

अपने अधिकारप्राप्त कर्त्तव्यमें तो कोई बाधा नहीं देती और उसका विधान भी शास्त्रमें है। अच्छे सत्पुरुष उसका अनुष्ठान-आचरण भी करते हैं। लेकिन उसका विधान अपनेसे भिन्न अधिकारीके लिए, भिन्न परिस्थितिके लिए किया गया है। ऐसी अवस्थामें भी उसका आचरण अधर्म ही है; क्योंकि वह परधर्म है। जो स्वधर्म नहीं है, वह दूसरेके लिए धर्म हो तो भी अपने लिये अधर्म ही है।

अश्वमेघ अथवा राजसूय यज्ञ है तो यज्ञ ही। यज्ञ ब्राह्मणके किसी कर्ममें बाधा नहीं देता। लेकिन इन यज्ञोंको करनेका अधिकार मूर्धाभिषिक्त राजाको ही है। इसलिए कोई ब्राह्मण इन्हें करने लगे तो यह उसके लिये अधर्म होगा। इसी प्रकार बृहस्पतिसव नामक यज्ञका विधान ब्राह्मणके लिए है। कोई क्षत्रिय उसे करे तो यह उसके लिये अधर्म होगा।

लौकिक उदाहरण लीजिए इस सम्बन्धमें। न्यायाधीशकी अपेक्षा कई वकील कानूनके अच्छे ज्ञाता होते हैं। कोई न्यायाधीश न्यायालयमें किसी दिन अनुपस्थित हो, कोई बड़ा वकील खाली हो, उस दिन उसके पास कोई भी मुकदमा न हो, ऐसी दशामें वह बिना अधिकारियोंकी अनुमतिके न्यायाधीशकी कुर्सीपर बैठकर उस दिनका न्यायाधीशका कार्य करने लगे तो सरकार उसे पुरस्कार देगी या दण्ड? वह अपराधी माना जायेगा या परोपकारी? यदि वह पागल ही नहीं सिद्ध हुआ तो अपराधी ही माना जायेगा।

इसलिए धर्माचरणमें सर्वोपरि महत्ता विधानकी है। जिसके लिये जिस परिस्थितिमें जो विधान किया गया है, उसके लिये उस परिस्थितिमें वही धर्म है। दूसरेके लिए जो विधान है अथवा अपने लिये ही भिन्न स्थितिके लिए जो विधान है, वह दूसरी स्थितिमें जानेपर परधर्म हो जानेके कारण अधर्म हो जाता है।

एक ही व्यक्ति आज गृहस्थ है तो गृहस्थके लिए जो धर्माचरणका विधान

है, यह उसका स्वधर्म है। लेकिन कल वह संन्यासी हो जाता है तो गृहस्थधर्म उसके लिये परधर्म बन जायेगा और संन्यासीके लिये वर्णित धर्माचरण उसके लिए स्वधर्म हो जायेगा।

ग्रहण लगा हो तो देवपूजन नहीं करना चाहिए, यह विधान है। ग्रहण लगा हो तो देव-पूजन करना अधर्म होगा; क्योंकि देव-पूजनका विधान भिन्न परिस्थितिके लिए है। लेकिन ग्रहण न लगा हो तो भी उपर्युक्त विधानकी बात करना भी अधर्म ही होगा।

उपधर्मस्तु पाखण्डो दम्भो वा।

उपमा अथवा उपधर्म है पाखण्ड। धर्माचरण करते तो हैं नहीं; किन्तु प्रदर्शित ऐसा करते हैं कि बहुत धर्माचरण कर रहे हैं। यहाँ दम्भ तथा पाखण्ड दोनोंका नाम विशेष तात्पर्यसे लगा लिया गया है। धर्माचरणका केवल दिखावा करना, यह पाखण्ड है और धर्माचरण करना किन्तु मनमें उसके द्वारा किसी अधर्मेच्छाकी पूर्ति रखना दम्भ है। दम्भ पाप है, यह सर्वविदित है। दम्भी धर्मका दिखावा करता है, इसीसे दम्भको उपमा- धर्मके समान लगनेवाला अधर्म कहा गया है। यह उपधर्म- धर्म न होकर भी धर्मको उपक्रान्त करने वाला है।

शब्दभिच्छलः।

शास्त्रोंमें जो आदेश हैं, उनके शब्दों का ठीक तात्पर्य जानते हुए भी उनका उससे भिन्न अर्थ करके उसके अनुसार आचरण करना धर्मके साथ छल करना है और यह अधर्म है। यह काम सर्वसाधारण प्रायः नहीं करते। जो शास्त्रके विद्वान् पण्डित हैं, वही प्रायः शास्त्रके वचनोंका अन्यथा अर्थ करके अपनी दुर्बलता छिपाने तथा समर्थित करनेका प्रयत्न करते हैं। जैसे-'देवं मधु समर्पयेत्' इसका सीधा सरल अर्थ है कि देवताको शहद चढ़ावें; किन्तु कोई आचारहींन सुरापी 'मधु' का अर्थ शराब करे और कहे कि 'इस देवताको सुरा चढ़ती है' तो यह छलरूप अधर्म हुआ।

यस्त्विच्छया कृतः पुम्भिराभासो ह्याश्रमात् पृथक्।

अपने वर्णाश्रम-धर्मसे भिन्न किसी भी आचरणको अपनी इच्छासे अपना लेना आभास- धर्माभास कहा जाता है और धर्माभास भी अधर्म ही है।

मैंने हरिद्वारके एक कुम्भमें रोड़ियोंमें एक नंगे व्यक्तिको देखा था। उसने पूरे शरीरमें विष्ठा पोत रक्खी थी और दो पत्थर लेकर बजा रहा था। वह दूसरोंको भी जनेऊ उतारकर ऐसा ही करनेका उपदेश कर रहा था। पुलिस

बुलाकर उसे मेलाक्षेत्रसे हटाना पड़ा। कलियुगके प्रभावसे आज-कल बहुतसे धर्माभास चल पड़े हैं। मनमाना आचरण धर्म नहीं है। शास्त्रविहित कर्मका नाम ही 'धर्म' है। यह बात भली प्रकार समझ लेनी चाहिए।

यहाँ उदाहरणके लिए कुछ थोड़ी बातें ऐसी दी जा रही हैं जो धर्म समझकर की जाती हैं; किंतु अधर्म हैं।

स्त्रियाँ पति-परिवारको त्यागकर साधुओंके आश्रममें बिना अभिभावकके रहें और भजन-साधनका प्रयत्न करें, यह अधर्म ही है।

पतिकी सेवा-श्रद्धा त्यागकर, उसकी अवमानना करके किसी गुरुकी सेवा स्त्री करे तथा पतिसे पूछे बिना, उसकी अनुमतिके बिना, पतिसे छिपाकर या पतिको रुष्ट करके गुरुको धन या अन्य पदार्थ स्त्री भेंट करे, तो वह अधर्म है।

छोटे बच्चोंको, अवयस्क युवकोंको साधु-दीक्षा देना अधर्म है।

बिना ही वैराग्यके माता-पिता तथा परिवारकी सेवा त्यागकर आरामके लिए साधु बनकर कहीं किसी आश्रममें जा बसना अधर्म है।

भगवद्भजनमें चित्त न लगता हो और सांसारिक सुख-भोगकी इच्छा हो तो उसे पूर्ण करनेके लिए साधु-वेश धारण करना अधर्म है।

साधु, संत, महोपदेशक समझकर श्रद्धालुजन जो धन देते हैं, उसे अपना स्वत्व मानकर देहके सुखोपभोगमें व्यय करना अधर्म है। ●●

धर्म-अधर्मके हिस्सेदार

विश्वमें आप अकेले नहीं हैं। कहीं किसी एकान्तमें जाकर भी आप एकाकी नहीं होते हैं। प्रकृतिके अविराम चलनेवाले विनिमयकी धारामें व्यक्तिकी कोई सत्ता नहीं है। परमाणुओंकी धारा प्रवाहित हो रही है। उसमें आपका शरीर पानीकी धारामें बनने वाले आवर्तकी आकृतिके समान है। हम-आप श्वास लेते हैं, कहाँ? उस वायुमें जो दूसरे सबके श्वाससे भरी है। यही अवस्था जलकी है। आपके प्रत्येक शब्द, प्रत्येक विचार, प्रत्येक चेष्टाका कम्पन सम्पूर्ण विश्वमें व्यापक हो रहा है।

जब हमारा स्थूल अस्तित्व ही अपने आपमें स्वतन्त्र नहीं है, हमारी क्रिया

अपने तक कैसे सीमित रह सकती है? हम किसी स्थानपर, किसी देशमें, किसी कालमें क्रिया करते हैं। वह क्रिया हमारे अनजानमें भी अनेकोंके सहयोगकी अपेक्षा करती है। एक व्यक्ति चाकूसे किसीपर चोट करता है। चाकूका लोहा खदानसे निकला, कारखाने गया, चाकू बना, बिका, यहाँ तक सहस्रों व्यक्ति हैं उसे प्रस्तुत करनेमें। चाकूमें लकड़ीकी मूठ है और चाकू बनानेवालेका जीवन है। उस जीवनके उत्पन्न करने, पालन करने, अन्न-वस्त्र उपलब्ध करने, रोगोंसे बचाने, शिक्षा देनेमें सहस्रों व्यक्तियोंका योग है। इस प्रकार कोई कार्य अपने-आपमें स्वतन्त्र नहीं है। कर्मशास्त्रका कहना है कि पृथ्वी, पर्वत, नदियाँ, वन, धातुएँ, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, तारे, वायु आदि सब तत्व जीवोंके समष्टि-प्रारब्धसे निर्मित होते हैं ।

कर्मका समष्टिपर प्रभाव तथा कर्ममें समष्टिका योग एक प्रत्यक्ष तथ्य है। इनको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन यहाँ समष्टिके भागकी बात मैं नहीं करूँगा। व्यक्ति जो धर्म या अधर्म करता है, उसमें मुख्य-मुख्य हिस्सेदार कौन-कौन होते हैं, केवल यह बात यहां करनी है। आप धर्म करते हों या अधर्म, उसका बड़ा भाग किनको मिलता है- मिल सकता है, यह जान लेना इसलिए भी लाभदायक है कि अज्ञानके कारण हम अन्योंके पापकर्ममें भागीदार होनेसे बचे रहें। साथ ही अनायास मिलते शुभ-कर्मके भागसे वंचित न हो जायें।

पति-पत्नी- कर्मका मुख्य दायित्व उसके कर्तापर ही होता है। लेकिन पत्नी पतिकी अर्धांगिनी मानी जाती है। इसलिए पतिके धर्म-अधर्ममें पत्नीका तथा पत्नीके धर्म-अधर्ममें पतिका बड़ा भाग होता है। साध्वी पत्नीके पुण्यबलसे पतित पतिका भी उद्धार हो जाता है, यह बात पुराणोंमें अनेक स्थानोंपर आयी है।

पिता-पुत्र— जैसे पिताकी सम्पत्ति तथा ऋणका भुगतान पुत्रको भोगना या देना पड़ता है, वैसा ही पिताके धर्म-अधर्मका शुभाशुभ प्रभाव भी उसकी संततिको प्राप्त होता है। पुत्रका किया श्राद्ध ही पिताको नहीं प्राप्त होता, पुत्रके किये धर्म-अधर्मसे भी पिता प्रभावित होता है।

त्रिसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ।

भगवान नृसिंहने प्रह्लादसे यह बात कही थी। भक्तिसूत्रमें तथा पुराणोंमें अन्यत्र भी आता है कि भगवद् भक्तके उत्पन्न होनेसे उस कुलके पितरोंका भी उद्धार हो जाता है।

तीन कुल सात पीढ़ियाँ— श्राद्धमें पिता, पितामह, प्रपितामह तथा वृद्धप्रपितामहकी पितृकुलमें तथा इसी प्रकार चार पीढ़ियोंको मातृपक्षमें पिण्डदान किया जाता है। भगवान नृसिंहने 'त्रिसप्तभिः' कहकर बतलाया कि माता-पिता तथा पत्निके (स्त्री हो तो पति के) कुलकी सात-सात पीढ़ियाँ भक्तके प्रभावसे पवित्र हो जाती हैं। इसका अर्थ हुआ कि भगवद्भक्त, ज्ञानी तथा उत्कट धर्मात्माके कर्म अपनेसे सम्बन्धित इन तीनों कुलोंके सात पूर्वजोंको पवित्र बना देते हैं।

शासक-प्रजा— जिसके शासनमें रहकर प्रजा धर्म या अधर्म करती है, उस शासकको प्रजाके धर्म-अधर्मका भाग मिलता है। सम्पत्तिके षष्ठांश तथा धर्माधर्मके दशांशका भागी शासक है। इसी प्रकार शासकके धर्म अथवा अधर्मका फल प्रजाको भी प्राप्त होता है। श्रीमद्भागवतमें कथा है कि द्वारकामें एक ब्राह्मणका पुत्र जन्मते ही मर जाता था तो वह राजद्वारपर पुत्रका शव रखकर पुकारता था- 'शासकके कर्म-दोषसे ही मेरा पुत्र मरा है।' ऐसी और भी कथाएँ पुराणों में मिलती हैं।

भूमिपाल— जिसकी भूमिपर कोई शुभ अथवा अशुभ कर्म किया जाता है; उस भूमिका स्वामी उस कर्त्ताके कर्मका भागी अवश्य होता है। इसलिए पहले पुण्यात्माजन अपनी भूमिपर यज्ञ-दानादि करते थे। तीर्थोंमें यात्रियोंके ठहरने तथा सुख-सुविधाकी व्यवस्था भी इसीलिए करते थे।

गुरु-शिष्य— जैसे पुत्र अपने पिताकी विन्दु-संतान है, वैसे ही शिष्य अपने गुरुकी नाद-संतान है। इसलिए गुरुके सत्कर्म-तप आदिका फल शिष्यको मिलता है। शिष्य के पुण्य अथवा पापका भागी गुरुको भी होना पड़ता है। बहुतसे विचारवान् धर्मज्ञ इसीलिए किसीको भी मंत्र देकर शिष्य ही नहीं बनाते। जैसे शिष्यके लिए योग्य गुरुका अन्वेषण कर्त्तव्य है, गुरुको भी वैसे ही सत्यपात्रको ही शिष्य बनाना चाहिए।

आश्रयदाता— किसी भी पुण्य अथवा पापकर्मको जिसने आश्रय दिया है, वह उसके पाप-पुण्यका भाग पाता है लेकिन मनुष्य जिसका आश्रय ग्रहण करता है, उसके पाप-पुण्यका भाग भी उसे कुछ-न-कुछ ग्रहण करना ही पड़ता है।

आजीविका एवं सुविधादाता— जिसका अन्न कोई खाता है, जिसकी सहायतासे, जिसके द्वारा सुविधा उठाकर रहता है, उसके पाप-पुण्यका भाग भी ग्रहण करता है। सुविधा तथा आजीविका देनेवालेको भी उन सुविधा

देनेवालोंके कर्मका भाग मिलता है। साधक इसीलिए सबका दान नहीं लेते। किसका अन्न ग्रहण करें, किसका न ग्रहण करें, इसका बहुत विचार करते हैं। तीर्थोंमें अन्न-सत्र लोग चलाते हैं। साधु-ब्राह्मणोंको, गरीबोंको, तीर्थयात्रियोंको वस्त्र, पाठपूजाकी पुस्तकें, जूता-छाता अथवा धन दान करते हैं वे इन पुण्यात्माओंके पुण्यका भाग प्राप्त करते हैं।

स्वामी-सेवक— इन दोनोंमें भी एक-दूसरेके कर्मोंका विनिमय होता है। जैसे उत्तम सेवकके कारण स्वामीकी प्रशंसा तथा दुश्चरित्र सेवकसे स्वामीकी निन्दा होती है, वैसे ही स्वामीके सुयश-अपयशसे सेवककी भी प्रशंसा-निन्दा होती है। लोकमें ही ऐसा नहीं होता। दोनोंके पाप-पुण्यका भी कुछ अंश एक-दूसरेको प्राप्त होता है।

निन्दक-प्रशंसक— आपका कोई सम्बन्ध नहीं है। इतनेपर भी आप एक व्यक्तिके उत्तम कर्मकी प्रशंसा करते हैं और अधर्म-कर्मकी निन्दा करते हैं। उस व्यक्तिके कर्मोंमें इस निन्दा या प्रशंसासे आपका भाग हो जाता है। प्रशंसा करके आप उसे यश तथा निन्दा करके अपयश देते हैं। इसलिए उसके पुण्य-पापका भाग मिलता है आपको।

पुराणमें एक कथा ही है कि किसी राजाने स्वप्नमें देखा कि उसके पुण्य तो हैं; किंतु उसके अपकर्मके स्वरूप बहुत-सी घोड़ेकी लीद भी एकत्र है जो उसे खानी पड़ेगी। देवदूतने बताया कि लोग उसकी निन्दा करें तो लीद उनमें बँट सकती है। राजाने बुरा काम तो नहीं किया; किन्तु ढंग ऐसा बनाया कि लोग उसे बुरा समझकर उसकी निन्दा करें। दुबारा उसने स्वप्न देखा तो थोड़ी लीद बची थी। राजपुरोहितने बताया कि राज्यमें एक व्यक्ति है जो किसीकी निन्दा नहीं करता। वह निन्दाकरे तो बची लीद समाप्त हो ।

राजा वेश बदलकर गया। उसने अपनी निन्दा करानेकी बहुत चेष्टा की तो वह व्यक्ति बोला-'राजन्! आपका प्रयत्न व्यर्थ है। वह लीद आपको ही खानी पड़ेगी। मैं आपकी निन्दा करके उसे खानेवाला नहीं हूँ।

जीवन्मुक्त पुरुषोंसे भी कर्म तो होते ही हैं। उनके संचित तो ज्ञानसे भस्म हो जाते हैं। प्रारब्ध वे भोगते हैं। लेकिन ज्ञानके अनन्तर जो कर्म वे करते हैं, उसमें-से शुभकर्म उनकी सेवा तथा प्रशंसा करनेवालोंको तथा अशुभ-कर्म उनको कष्ट देनेवालों तथा उनकी निन्दा करनेवालोंको प्राप्त हो जाते हैं। ऐसा शास्त्रोंमें वर्णन है।

कर्म-विनिमयके इस नियमको ध्यानमें रखकर प्रत्येक मनुष्यको परनिन्दा, परचर्चा से दूर रहना चाहिए।

प्रेरक, सहायक, अनुमोदक— कर्ता सदा स्वेच्छासे अपनी प्रेरणासे ही कर्म नहीं करता। अनेक बार वह दूसरों-द्वारा प्रेरित किया जाता है। कभी-कभी तो कर्ता गौण होता है और प्रेरक ही मुख्य होता है। जैसे स्वामीकी आज्ञासे विवश होकर सेवकको जब कोई काम करना पड़ता है, गुरु या पिताकी-आज्ञा से विवश शिष्य या पुत्रको कोई काम करना पड़ता है तो वहाँ आदेश देनेवाला ही कर्मका मुख्य उत्तरदायी होता है। कर्मके करने-वालेपर बहुत थोड़ा दायित्व रह जाता है।

ऐसा न भी हो तो भी अनेक बार कर्ता वह कर्म न कर पाता, यदि उसे दूसरेसे प्रेरणा-प्रोत्साहन न मिलता। ऐसी अवस्थामें भी प्रेरक उस कर्मका उत्तरदायी होता है। भले कर्ता वह कर्म स्वेच्छासे कर लेता; किन्तु प्रेरणा देनेवाला कर्मके दायित्वसे मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार कर्ममें सहायता देकर कारण बनने वाला भी उस कर्मका उत्तरदायी है।

कर्तुश्च सारथेर्हेतोरनुमोदितुरेव च।
कर्मणां भागिनः प्रेत्य भूयो भूयसि तत् फलम्॥

(श्रीमद्भागवत ११/२७/५५)

भगवान्ने कहा है कि कर्मका कर्ता, प्रेरक, सहायक तथा उस कर्मका समर्थन-अनुमोदन करनेवाला भी-'ठीक किया' 'यही करना चाहिए' कहने वाले भी जन्मजन्मान्तरमें उस कर्मके फलभागी होते हैं। बार-बार और बहुत अधिक होकर कर्मफल उन्हें प्राप्त होता है।

अधर्मके सूचक-

यद धर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत्।

(श्रीमद्भागवत १/१७/२२)

राजा परीक्षित वृषभरूपधारी धर्मके सम्मुख यह तथ्य प्रकट कर रहे हैं-'जो स्थान अधर्मके कर्ताको प्राप्त होता है, उस अधर्मकी दूसरोंको सूचना देने वालेको भी वही स्थान, वही पापका फलभोग प्राप्त होता है।'

अमुकने अमुक दुष्कर्म किया!' यह सूचना सत्य हो सकती है; किंतु यह सूचना देकर कोई न तो दुष्कर्म रोक सकता, न कर्मका वह निर्णायक है। इसलिए

इस अधर्मके फलमें हिस्सेदार बननेकी बुद्धिमानी न की जाय, यही उत्तम बात है।

●●

कर्मयोनि और भोगयोनियाँ

हम क्यों कहते हैं कि केवल मनुष्य ही कर्मयोनि है?

देवता, सिद्ध, यक्ष-राक्षस— ये सब कर्म करनेमें मनुष्यसे कहीं अधिक समर्थ हैं। कहीं अधिक क्रियाशक्ति और बुद्धि उनमें है। कर्म तो क्षुद्र कीट तक करते हैं। ऐसी दशामें केवल मनुष्य ही कर्मयोनि क्यों?

१-पहले पृथ्वीके प्राणियोंको ले लें। पृथ्वीमें जो प्राणी हैं, उनका एक प्रकारका विभाजन है—१-ऊर्ध्वस्रोत, २-तिर्यक्स्रोत और ३-अधःस्रोत। वृक्षादि वनस्पति 'ऊर्ध्वस्रोत हैं'। ये अपनी जड़ोंसे रस-ग्रहण करते हैं और वह रस ऊपरकी ओर जाकर उन्हें पुष्ट करता है। प्रकृतिमें जो उत्थान-पतनका (विकासका ही नहीं) चक्र घूम रहा है, इसमें वे विकासोन्मुख हैं। प्रकृति उन्हें ऊपर ले जा रही है, यह उनका ऊध्वस्रोत होना बतलाता है। पशु-पक्षी आदि सब 'तिर्यक्स्रोत' हैं। ये जो आहार ग्रहण करते हैं, वह उनके शरीरमे आड़े चलता है। प्रकृति इसके द्वारा सूचना देती है कि ये मध्यमावस्थामें हैं। ये ऊपर भी जा सकते हैं और नीचे भी। ऊर्ध्वमुख गति और अधोमुख गति-दोनोंमें ही मध्यमावस्था आती है। केवल मनुष्य 'अधःस्रोत' प्राणी है। यह जो आहार मुखसे ग्रहण करता है, वह नीचेकी ओर जाता है। प्रकृति इस प्रकार सूचना देती है कि उसके राज्यमें विकासकी चरम सीमा यहाँ हो चुकी। यहाँ प्रयत्न करके यदि तुम जन्म-मरणसे छूट नहीं जाते, प्रकृतिके प्रशासनसे परे नहीं पहुँच जाते तो प्रकृति अब तुम्हें नीचे ले जाने वाली है। जिसको स्वयं प्रयत्न करके प्रकृतिके प्रशासनसे परे होना है, यह 'कर्मयोनि' का प्राणी तो हुआ ही।

२-पृथ्वीपर मनुष्य ही कर्मयोनिका प्राणी है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मनुष्यका बच्चा सर्वथा अशिक्षित उत्पन्न होता है। उसे सब कुछ उत्पन्न होनेके पश्चात् ही सीखना है। साथ ही सब कुछ सीखनेकी योग्यता, सब प्रकारसे

रह लेनेकी क्षमता उसे दी गयी है। यह बात पृथ्वीके दूसरे किसी भी प्राणीमें नहीं है।

पशु-पक्षियोंके ही नहीं, नन्हें कीटों तकके शिशु अपने जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक संस्कार माताके उदरसे लेकर उत्पन्न होते हैं। वे भोगयोनिके प्राणी हैं; अतः अपनी योनिके भोगोंको भोगनेका आवश्यक ज्ञान उन्हें जन्मसे ही प्राप्त होता है। बंदरके बच्चेको वृक्षपर चढ़ना या माताके पेटसे चिपके रहना सिखलाना नहीं पड़ता। गायके बछड़े को तैरना कब सिखलाया जाता है? प्रत्येक पक्षी अपनी परम्पराके अनुसार ही घोंसला बनाना किससे सीखता है? बतखका शिशु अण्डेसे निकलते ही तैरने लगता है। कबूतर और बुलबुलको आप बयापक्षीके साथ बरसों पाल कर देख लीजिये-बयाके समान सुदृढ़ कलापूर्ण घोंसला बनाना तो दूर, इन्हें कोई अटपटा बंद घोंसला भी बनाना नहीं आयेगा। बुलबुल वही कटोरी-जैसा घोंसला बनायेगी। ये पशु-पक्षी सिखलानेपर बहुत कुछ सीख लेते हैं, यह ठीक है; किन्तु उस शिक्षाको अपने काममें लेना इन्हें कदाचित् ही आता है। अपने शिक्षकके लिए कार्य न करना हो तो ये अपने पुराने ढंगपर लौटना ही पसंद करते हैं।

मनुष्यके बच्चेकी अवस्था सर्वथा भिन्न है। वह कर्मयोनिमें आया है; अतः उसे कुछ भी सिखला कर भेजा नहीं गया है। सब उसे यहीं सीखना है। लेकिन परिस्थितिके अनुसार रह लेने और सीख लेनेकी क्षमता उसे दी गयी है। मनुष्य जल में तैर सकता है, वृक्षपर चढ़ सकता है; किन्तु कब? जब उसने ऐसा करना सीखा हो। अन्यथा मनुष्य जलमें डूब जाता है। उसे वनके पशु भले मार डाले; किन्तु वृक्षपर चढ़ना उसने नहीं सीखा है तो चढ़ नहीं पाता है। मनुष्यके बच्चेकी कोई भाषा नहीं, कोई गृह-निर्माण- पद्धति नहीं। जो भाषा सिखलायी जाय, उसे सीख लेगा। जैसा रहन-सहन सिखलाया जाय वैसे रहने लगेगा।

भेड़ियोंके द्वारा पाले गये मनुष्यके बच्चे मिले हैं। वे भेड़ियेकी माँदमें रहने और हाथ-पैरोंसे भेड़ियोंकी भाँति चलने-दौड़ने तथा कच्चा मांस खाने के अभ्यासी हो चुके थे। भेड़ियोंके समान गुर्राना-मात्र ही उन्हें आता था। एक उदाहरण हिरणोंके द्वारा पाले गये बच्चेका भी पढ़नेको मिलता है। बतलाया गया है कि वह बच्चा मुखसे घास चरता था और हिरणोंकी गतिसे छलांग लगाता दौड़ता था।

यह कर्मयोनिके प्राणीकी ही विशेषता है कि वह उस परिस्थितिके अनुसार

अपनेको बना सकता है, जो प्रारब्ध उसे देता है। किसी भोगके लिए आवश्यक ज्ञान एवं उपकरण देकर उसे प्रकृति नहीं भेजती; क्योंकि वह 'भोगयोनि' का प्राणी ही नहीं है।

३-जब देवतादि भोगयोनिके उच्च प्राणियोंको लें। बुद्धि उनमें मनुष्यसे अधिक है; किन्तु उनको प्रकृतिने स्थूलशरीर नहीं दिया है। धर्माधर्मकी उत्पत्तिके लिए स्थूलदेह ही आवश्यक नहीं है, यह भी आवश्यक है कि वह कर्म पृथ्वीपर किया जाय। दैत्यराज बलिने बलपूर्वक स्वर्गपर अधिकार कर लिया, तब दैत्यगुरु शुक्राचार्यने उन्हें समझाया- 'स्वर्गपर इस प्रकार अधिकार स्थायी नहीं हो सकता। अधिकार तभी स्थायी होता है, जब उस अधिकारको प्राप्त करनेका जो नियम है, उसे पालन किया जाय। अन्यथा सृष्टिका नियन्ता किसी-न-किसी प्रकार अनाधिकारीको अनाधिकार-प्राप्त स्थानसे च्युत कर ही देता है। स्वर्गका स्वामित्व सौ अश्वमेध यज्ञ करने वालेको मिले, यह नियम है। तुम यह यज्ञ करके यहाँके नियमित अधीश्वर बन जाओ तो तुम्हें सृष्टि-नियन्ता भी पदच्युत नहीं कर सकेगा।

बलिको यज्ञ करनेके लिए पृथ्वीपर आना पड़ा। उन्होंने नर्मदाके उत्तरतटपर अपनी यज्ञशाला बनायी; क्योंकि समस्त लोकोंमें सृष्टिकर्ताने इस धराको ही कर्मभूमि बनाया है। दूसरे सब लोक तो भोगभूमि हैं। धरा ही कर्मक्षेत्र है। इसी क्षेत्रमें कर्मकी खेती सम्भव है। यहीं हुए शुभ या अशुभ कर्मोंका भोग दूसरे लोकोंमें कर्ताको मिलता है; जैसे वृक्षकी जड़ पृथ्वीमें ही रहती है, पृथ्वीके रससे ही वह बढ़ता-फलता है। अब यह बात भिन्न है कि कुछ वनस्पति पृथ्वीपर फैलकर वहीं फलती हैं, कुछके कन्द पृथ्वीके भीतर बनते हैं और कुछके फल ऊपर आकाशमें उनकी डालों में लगते हैं। कर्मका फल ऊपर-नीचे या पृथ्वीपर,, कहीं भी होता है,कर्मरूपी वृक्षके उगने पोषण पानेका स्थान पृथ्वी ही है।

देवता, दैत्य या उपदेवता कर्म कर तो सकते हैं; किन्तु तभी कर सकते हैं, जब वे पृथ्वीपर आकर और मनुष्य रूपमें रहकर कर्म करें। पृथ्वीपर आकर अपने देवरूपमें वे कुछ करें तो वह कर्म कोई पाप-पुण्य उत्पन्न नहीं करता। देवता पृथ्वीपर आकर किसीको वरदान दे जायँ या शाप, इससे उन्हें कोई पाप-पुण्य नहीं होता। उनके अपने लोक तो भोगलोक हैं ही, वहाँ वे कोई शुभ कर्म करें तो वह पुण्य नहीं उत्पन्न करता ।

वैसे महलोक और जनलोकमें जो ऋषि-मुनि रहते हैं, वे सत्संगमें लगे रहते

हैं। ऐन्द्रियक भोगोंमें उनकी रुचि नहीं है; किन्तु उन लोगोंका सत्संग, ज्ञान-ध्यान मोक्षप्रद नहीं बना करता। यदि कभी किसीको वहाँ ज्ञान होता भी है तो उसे होता है, जो धरासे ही उसका अधिकारी होकर जाता है।

देवताओंको अनेक बार भगवान् शिव एवं भगवान् नारायणके दर्शन होते हैं। श्रीराम-श्रीकृष्णादि जब पृथ्वीपर अवतार लेते हैं तो देवता उनका दर्शन करते हैं। अनेक बार उनकी सेवा भी करते हैं और उनसे प्रत्यक्ष सम्पर्कमें भी आते हैं; किन्तु इससे न उन्हें भक्ति मिलती और न उनकी मुक्ति होती है। वे तो जैसे के तैसे ही बने रह जाते हैं, जब कि पृथ्वीके पशु-पक्षी-वृक्षादिका भी उद्धार अवतार कालमें भगवान्‌के सम्पर्कमें आनेपर हो जाता है।

देवलोकादि 'भोगलोक' हैं। वहाँ जो देह प्राप्त होता है, वह 'भोग-देह' है। उसमें नवीन कर्म-संस्कार ग्रहण करनेकी क्षमता नहीं होती। उस देहमें रहते अपवाद स्वरूप ही कदाचित् पृथ्वीपर आकर और स्थूल देह लेकर कर्म करनेकी प्रवृत्ति जागती है, जैसे बलिमें जागी। अन्यथा वहाँ भोगोंमें ही रुचि एवं प्रवृत्ति रहती है।

धरा कर्म-भूमि है और यहाँ भी केवल मनुष्ययोनि ही कर्मयोनि है। देवता भी करना चाहें तो उन्हें धरापर मनुष्य बनकर आना पड़ता है।

'न हि मानुषात् परतरं हि कश्चित्।'

'मनुष्यसे श्रेष्ठ दूसरा कोई कहीं किसी लोकमें नहीं है।' लेकिन क्या द्विपाद प्राणीका नाम ही मनुष्य है?

मनुष्ययोनिकी विशेषताएँ हैं, जिन्हें यहाँ दे देना उत्तम होगा—

देवता तथा दूसरे पुण्यलोकोंके सब प्राणी क्षयोन्मुख हैं। वे अपने पुण्योंका भोग करके उन्हें क्षीण कर रहे हैं। वे वहाँसे नीचे गिरनेके मार्गपर हैं। उनकी अवनति ही होने वाली है।

पशु-पक्षी और वृक्ष ही नहीं, नारकीय प्राणी भी ऊर्ध्वमुख हैं। वे प्रगतिके मार्गपर हैं। वे अपने पापों-अशुभ कर्मोंको भोगकर क्षीणकर रहे हैं। वे विकासोन्मुख हैं। उनकी उन्नति ही होनेवाली है।

मनुष्य कहाँ है— यह उसे स्वयं देखना है। वह जो कुछ करेगा, कर्मयोनिका प्राणी होनेके कारण उसको उसका फल-भोगना है। वह शुभकर्म करता है तो उत्थानके मार्गपर है-देवताओंसे भी श्रेष्ठ है। देवत्व ही नहीं, मोक्ष भी उसका

प्राप्य बन सकता है। यदि अशुभ कर्म करता है तो वह पतनकी ओर जा रहा है। नरक और पशुत्व उसके भाग्यमें हैं।

धर्म-बुद्धि ही मनुष्यकी विशेषता है। धर्माधर्मको समझकर जो धर्ममें लगे, वह मनुष्य है। जो केवल खाने-पीने तथा अन्य भोगोंको जुटानेमें लगा है, वह कितना भी बड़ा विद्वान्-बुद्धिमान् हो, वह 'द्विपाद पशु' ही है। वह तो पशुत्वसे भी नीचे जा रहा है।

●●

कर्मफल-पद्धति

कर्मफल कालान्तरमें

'बीज-वृक्ष-न्याय'-कर्मफलकी पद्धति बहुत संक्षिप्त कहें तो इतनी ही है। बीज-वृक्ष-न्यायको ठीक-ठीक समझ लिया जाय तो कर्मका सिद्धान्त समझमें आ जायेगा।

'अमुक व्यक्ति बहुत धर्मात्मा है; किन्तु उसको तो अभाव तथा दुःख ही भोगना पड़ रहा है।' अथवा 'अमुक व्यक्ति धर्माधर्मकी कोई चिन्ता नहीं करता; झूठ, छल, कपट, विश्वासघात आदि ही करता है; किन्तु कितना सम्पन्न और सुखी है?'-ऐसी बातें प्रायः लोग कहते हैं।

धर्मका फल दुःख और पापका फल सुख कभी हो नहीं सकता। यदि पापका फल सुख होता तो पाप करने वाले सब धनी और सुखी होते; किन्तु उनमें तो अत्यन्त दरिद्र, रोगी और बहुत दुःखी देखे जाते हैं।

एक किसानने पिछले वर्ष खेती नहीं की। इस वर्ष खेतोंमें जी-तोड़ परिश्रम करता है; किन्तु पुराना अन्न घरमें रहा नहीं; फलतः उसे और उसके परिवारको प्रायः भूखों रहना पड़ता है। दूसरे किसानने पिछले वर्ष बहुत परिश्रम खेतोंमें किया था। इस वर्ष उसने हल-बैलको छुट्टी दे रक्खी है। दिन-रात घर में पड़ा रहता है। घरमें पिछले वर्षका अन्न भरा है, सो स्वयं खाता है, दूसरोंको भी देता है। अब आप क्या कहना चाहते हैं कि खेतोंमें श्रम करनेका फल उपवास है और बैठे रहनेका फल भरपेट भोजन ।

एक दैनिक मजदूरीपर काम करने वाला मजदूर भी शामको या सप्ताहान्तमें मजदूरी पाता है। कर्म बहुत ही प्रबल न हो तो वह तत्काल फल नहीं देता और उतना ही फल नहीं देता जितना किया जाय। कर्मका फल किए गएसे बहुत अधिक होता है, यदि ठीक संयोग मिलते गये। सब संयोग विपरीत हों तो कर्म निष्फल भी हो सकता है। कुछ संयोग मिले तो अल्प फल दे सकता है। प्रायः पाप-पुण्यका फल इस जीवनमें नहीं मिलता। वह जन्मान्तरमें मिलता है।

कर्मका फल ऐसा कम ही होता है जो कर्मकालमें मिले। फल प्रायः कालान्तरसे ही मिलता है, भले वह काल अत्यल्प हो या बहुत लम्बा। आप भोजन बनाते हैं तो थोड़े ही समय बाद खानेके लिए भोजन मिल जाता है। कोई कारखाना लगाते हैं तो कई वर्षमें कारखाना चालू होता है। इमली-जैसे कुछ वृक्ष हैं, जो लगाये जानेपर बहुत लम्बे समयमें फल देते हैं। अतः कालान्तरमें फलकी प्राप्ति, यह तो कर्मका स्वाभाविक नियम है ।

कर्मफल-देश-काल-पात्रानुसार

आप एक बीज बोते हैं या एक वृक्ष लगाते हैं तो क्या वह एक ही फल देता है? जितना लगाया जाय उतना ही मिले तो कोई व्यापार क्यों करे और कारखाने क्यों स्थापित करे। कर्मका दूसरा नियम है कि अनुकूल संयोग मिलते जायें तो वह अपने सैकड़ों गुने फल देता है। अवश्य ही अनुकूल संयोग कम हों तो फल कम होता है और सब संयोग विपरीत हों तो बोया बीज भी नष्ट हो जाता है। यही बात धर्म-अधर्म रूपी सभी कर्मोंके सम्बन्धमें हैं।

अनुकूल संयोग क्या? देश, काल, पात्र तथा कर्ताका भाव एवं कर्म करनेकी विधि- ये सब कर्मफलको प्रभावित करते हैं। जिस खेतमें बीज बोना है, वह उपजाऊ होना चाहिए। वह बंजर हो तो अन्य संयोग व्यर्थ जायेंगे। इसी प्रकार धर्म या अधर्म कहाँ किया गया, उस स्थानका महत्व है। गयामें किया गया श्राद्ध पितरोंको अक्षय तृप्ति देता है। तीर्थमें किया गया दान-पुण्य बहुत अधिक फल देता है और तीर्थमें किया गया पाप भी बहुत अधिक कुफल देता है।

स्थान-देश उपयुक्त हो, इतना ही पर्याप्त नहीं है। काल भी उपयुक्त होना चाहिए। खेत कितना भी उपजाऊ हो, आप मौसमके विपरीत उसमें बीज डालेंगे तो फसल होगी? इसी प्रकार जिन कर्मोंके जो समय निश्चित हैं, उनमें वह कर्म करनेपर पूरा फल देता है। एकादशी आदि पर्वोंको दान, श्राद्धपक्ष एवं

श्राद्धतिथिमें श्राद्ध करनेपर उनका फल बहुत बढ़ जाता है। ऐसे ही पुण्य-पर्वके दिन पाप करनेसे वह बहुत बढ़ जाता है।

किसके साथ पाप या पुण्य किया गया, उसका भी उस कर्मके फलपर प्रभाव पड़ता है। चोर-बदमाशको थप्पड़ मारते हैं, आप एक साधारण मनुष्यको एक चपत लगाते हैं, एक कर्त्तव्यशील पुलिस वालेको चपत लगाते हैं और एक न्यायाधीशको चपत लगाते हैं। क्या चारोंको चपत लगानेका दण्ड समान है? इसी प्रकार एक ही अपराध या एक उपकार किसके साथ किया गया, इसके अनुसार कर्मका फल कम या अधिक है। एक भूखसे मरनेको रोटीका टुकड़ा देनेका अनन्त पुण्य है; किन्तु किसी धनीको किसी शिष्टाचारवश या भय स्वार्थादिके कारण स्वादिष्ट भोजन करानेमें कोई खास पुण्य नहीं है।

कर्मका फल कर्ताकी परिस्थितिके अनुसार भी कम या अधिक होता है। एक अरबपतिके कुछ सहस्र रुपये दानका वह पुण्य नहीं है, जो एक कंगालके द्वारा किये गये पाँच पैसे दानका है। इसी प्रकार एक व्यक्ति शत्रुतासे हत्या करता है और एक विवश होकर प्राण या धर्म बचानेको हत्या करता है तो दोनोंका अपराध समान नहीं है। दोनोंको समान दण्ड नहीं दिया जा सकता।

कर्ताका भाव तथा उसकी श्रद्धा फलको प्रभावित करती है। एक भिखारीको झिड़कर, तिरस्कारपूर्वक, उससे पिण्ड छुड़ानेको आप एक पैसा फेंक देते हैं, यह पुण्य ही नहीं हुआ। वही एक पैसा उसी भिखारीको आप सत्कारपूर्वक, मीठे वचन कहकर श्रद्धासे देते हैं तो आपका पुण्य बहुत बढ़ गया। इसी प्रकार एक व्यक्ति तीर्थ जाता है व्यापार करने, एक जाता है मनोरञ्जन करने, एक जाता है तीर्थयात्रा करने। तीनों वहां स्नान-दान देव-दर्शन करते हैं; किन्तु तीनोंकी तीर्थयात्राके फलमें बहुत अन्तर होता है !

आजकल आस्थावान् लोगोंमें भी शास्त्रीय कर्मोंकी विधिके प्रति उपेक्षा हो गयी है। वे कह देते हैं-'हम क्या करें; जितना जानते हैं उसमें जितना सम्भव है करते हैं। जो विधि हम नहीं जानते, उसका क्या करें।'

यह बात प्रमाद है। विधिको जानने और उसे ठीक-ठीक पूर्ण करनेका उत्तरदायित्व किसपर है? कर्तापर। आप खेती नहीं जानते और बड़ी श्रद्धा विश्वाससे उलटे-सीधे ढंगसे खेती करते हैं तो फल क्या होगा? बहुत विश्वास श्रद्धा रखकर आप एक रोगीको दवा दें या एक मशीन चलाने लगें; किन्तु आपको

चिकित्सा-शास्त्र न आता हो, मशीनके संचालनका ज्ञान न हो तो परिणाम क्या होगा?

हमको जो काम करना है, उसको करनेकी विधिको ठीक-ठीक करना हमारा उत्तरदायित्व है इसमें 'हम जानते नहीं थे' और 'हमसे इतना ही हो सकता था'-यह बात नहीं चल सकती। आप छुरी चलाना न जानें तो साग छीलनेमें हाथ कट कर रहेगा। भोजन बनाना न जानें तो रसोई बिगड़ कर रहेगी; 'हमारे पास इतना ही नमक था'-यह कहनेसे वहाँ काम चलने वाला नहीं है।

श्राद्ध, यज्ञ, देवपूजनादि कर्मोंमें सकाम अनुष्ठानोंमें विधिका अज्ञान तथा क्रिया एवं सामग्रीमें किसी भी कारण त्रुटि होगी तो उनका फल घट जायेगा। वे निष्फल हो सकते हैं और कभी-कभी उनसे सर्वथा विपरीत फल भी प्राप्त होता है।

अवश्य ही निष्काम भावसे, भगवदर्पण बुद्धिसे किया गया कर्म कभी अनिष्ट फल नहीं देता। वह निष्काम भावसे किया गया है, अतः उसके फलके घटने-बढ़ने या असफल होनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान्‌की या देवताओंकी उपासना श्रद्धापूर्वक हो, देवतामें विश्वास हो तो उसमें भी विधि या सामग्री त्रुटिका महत्व नहीं रहता; क्योंकि देवता कर्ताकी श्रद्धा पहले महत्वपूर्ण मानते हैं।

यज्ञ, श्राद्ध, सकाम-अनुष्ठान, गृह-शन्ति आदि कर्म ऐसे हैं, जिनमें विधिका बहुत महत्व है। इनमें कर्ताको विधि जाननी ही चाहिए।

अनेक कर्मका एक फल

कभी-कभी एक परिणाम उत्पन्न करनेके लिए बहुतसे काम करने पड़ते हैं। जैसे खेतसे अन्न उत्पन्न करना है। इसमें खेतको जोतना, बोना, सींचना, घास-फूंस निकालना, खाद देना, रक्षा करना आदि बहुतसे काम करने पड़ते हैं। इसी प्रकार एक अभीष्टकी पूर्तिके लिए ग्रह-शान्ति, देव-पूजन, जप, पाठ आदि कई अनुष्ठान करने पड़ सकते हैं। योगमें समाधि-सिद्धिके लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानादि बहुतसे काम करने पड़ते हैं।

सच तो यह है कि एक फलके लिए अनेक कर्म किए जायँ, यही सामान्य

नियम है। संसारके अधिकांश परिणाम ऐसे ही हैं कि उनके लिए कई-कई काम करने पड़ते हैं। इसी प्रकार पारलौकिक फलोत्पादनमें भी एक फलके लिए कई कर्म करने पड़ते हैं या पड़ सकते हैं।

एक कर्मके अनेक फल

जैसे अनेक कर्म एक फल उत्पन्न करते हैं, वैसे ही एक कर्म अनेक फल उत्पन्न करता है। आप स्नान करते हैं-इस एक कर्मसे शरीर स्वच्छ होता है, मन प्रसन्न होता है। पूजा-पाठादि करनेकी योग्यता आती है। आप खेतमें खाद डालते हैं तो खेत उर्बर बनता है, खाद जहाँ थी, उस स्थानकी सफाई होती है, आपके शरीरको श्रम होता है। इसी प्रकार धार्मिक- पारमार्थिक कर्म भी एक करनेपर अनेक फल उत्पन्न करते हैं। कोई सच बोलता है तो पापसे- असत्यसे बचता है, समाजमें एक आदर्श उपस्थित करता है, उसका मन शान्त-निर्भय बनता है। कोई सकाम भावसे भी भगवान्‌की पूजा करता है तो उसका चित्त निर्मल होता है, मन भगवान्‌के स्मरणमें लगता है, कम-से-कम उतने समय बुराइयोंसे बचा रहता है; लोकमें आस्तिकता- भगवद्-विश्वास उसके द्वारा फैलता है।

कोई व्यक्ति समाजमें अकेला नहीं है। हमारा जीवन, हमारे समस्त दैनिक व्यवहार अनेकोंके ज्ञात एवं अज्ञात सहयोगपर निर्भर हैं और हमारे प्रत्येक कार्यका अनेकोंपर प्रभाव पड़ता है, वैसे ही कर्म लौकिक हों या पारलौकिक, अकेले नहीं हुआ करते। प्रत्येक कर्म अपनी पूर्णता के लिए अनेक अन्य कर्मों पर निर्भर रहता है। उसकी पूर्णता रूप फल वस्तुतः अनेक कर्मोंका फल होता है और कोई कर्म केवल अपना एक ही फल नहीं देता। उसके अनेक फल हुआ करते हैं।

कर्मकी प्रतिक्रिया

कर्मका तीसरा मुख्य नियम है कि उसकी प्रतिक्रिया होती है। जहाँ क्रिया होगी, वहाँ प्रतिक्रिया भी होगी। जितनी बलवान् क्रिया होगी, प्रतिक्रिया भी उतनी ही बलवान् होगी। आप गेंद जितने वेगसे दीवारपर मारेंगे, उतने ही वेगसे वह आपकी ओर लौट कर आयेगी। आप आकाशमें पुष्प फेंकेंगे तो पुष्प सिरपर पड़ेंगे।

आप यदि जगत्‌को भलाई दे रहे हैं तो आपको भलाई प्राप्त होगी। भलेके लिए पूरा संसार भला है और बुरेके लिए पूरा संसार बुरा है। आप यदि समाजको बुराई दे रहे हैं तो आपको बुराई मिलकर रहेगी। इसलिए व्यवहार का नियम यह है-

श्रूयतां धर्मसर्वस्व श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

भगवान व्यास कहते हैं- 'धर्मका सर्वस्व सुनो और इसे सुनकर चित्तमें बैठा लो कि जो बात-व्यवहार दूसरोंसे तुम अपने प्रति नहीं चाहते, वह व्यवहार तुम दूसरोंके साथ मत करो।'

ऐसा नहीं है कि आप कुछ करेंगे, तभी उसका प्रभाव दूसरोंपर पड़ेगा। आप मनमें जो सोचते हैं, उसका प्रभाव भी दूसरोंपर पड़ता है। आप किसीको बुरा मानते हैं, किसीकी बुराई सोचते हैं तो उसके मनमें आपके प्रति उपेक्षा, घृणा या द्वेष उत्पन्न होता है। आपके मनका भाव उसके यहाँसे प्रतिक्रान्त होकर आपकी ओर लौटता है।

कर्मके लिए प्रकृतिका नियम

कर्मका चौथा नियम है कि जिस शक्तिका- जिस इन्द्रियका आप दुरुपयोग करते हैं वह आपसे छीन ली जाती है। जो बहुत जिह्वालोलुप है, वे यदि आहारपर संयम नहीं रख पाते तो उनका पेट ऐसा खराब होता है कि वे सामान्य भोजनका भी स्वाद नहीं ले पाते और उन्हें पथ्यपर रहना पड़ता है। जो बहुत कामुक हैं, वे अल्पकालमें ही पुंसत्व खो बैठते हैं। बहुत सिनेमा देखनेवालोंकी नेत्र-ज्योति क्षीण हो जाती है। यह नियम सभी इन्द्रियोंके सम्बन्धमें है।

जैसे इस जन्ममें यह नियम सत्य है, पुनर्जन्मके लिए भी यही नियम सत्य है। जिन्होंने वाणीका दुरुपयोग लोगोंको कटुवचन कहनेमें किया, वे गूँगे होकर उत्पन्न होते हैं। जो दूसरोंको कुदृष्टिसे ही देखते हैं, वे अन्धे पैदा होते हैं। जिन्होंने अपने बलके गर्वमें दूसरोंको सताया है, वे निर्बल तथा रोगी होकर जन्म लेते हैं। जो अपनी बुद्धि सत्यका तिरस्कार करनेमें, अच्छे लोगोंको तर्क करके अपमानित करनेमें लगाते हैं, वे बुद्धिहीन अथवा पागल उत्पन्न होते हैं।

इसके विपरीत जो अपनी शक्तिका, अपनी इन्द्रियोंका सदुपयोग करते हैं

उनकी यह शक्ति जन्मान्तरमें बढ़ जाती है अथवा वे अधिक उच्च योनिमें जन्म होते हैं। यह नियम भी संसारके कर्मक्षेत्रके नियमके समान ही है। यहाँ भी तो जो कर्मचारी अपने पद-अधिकारका दुरुपयोग करता है, उसकी पदावनति होती है अथवा उसे पदच्युत कर दिया जाता है। जो अपने पद-अधिकारका ठीक-ठीक सदुपयोग करता है, उसे पदोन्नति प्राप्त होती है।

कर्मफल यहाँ कितना? परलोक में कितना?

जितना फल मिलता है, वह सब पूर्वजन्मके ही कर्मका फल है और इस जन्मके कर्मका इस जन्ममें कुछ फल होता ही नहीं, ऐसी बात नहीं है। कर्मके स्थूल अंशका स्थूल फल इसी जन्ममें मिलता है। बहुत कर्म ऐसे हैं कि उनका दृष्ट इहलौकिक फल ही होता है। पारलौकिक फल उनका कुछ नहीं होता। कुछ कर्म कोई दृष्ट फल नहीं देते। उसका अदृष्ट फल ही होता है। कुछ कर्म उभयात्मक होते हैं। उनका कुछ फल इस लोकमें होता है, कुछ परलोकमें।

आप कहीं जानेके लिए चलते हैं और वहाँ पहुँच जाते हैं। आप भोजन करते हैं और उससे भूख मिट जाती है। आप दूध आदि पौष्टिक पदार्थ खाते हैं और इससे शरीर पुष्ट होता है। यह सब कर्म केवल लौकिक फल देने वाले हैं। इन लौकिक कर्मोंको भी पारलौकिक फल भी देने वाला बनाया जा सकता है। अपना लौकिक फल तो वे देंगे ही। ऐसा करनेमें केवल मनका भाव परिवर्तन करना पड़ता है। आपको कहीं जाना है। अब आप सोचते हैं कि पृथ्वी तो भगवान्‌की पत्नी है, अतः मेरी माता है। मैं माताकी गोदमें टहल रहा हूँ। अब यह यात्रा पुण्यप्रद हो गयी। इसने हृदयशुद्धि प्रारम्भ कर दी। आप भोजन बनाकर उसे भगवान्‌को अर्पित करते हैं और भगवत्प्रसाद मान कर खाते हैं तो भूख मिटना, शरीरका पुष्ट होना तो होगा ही, हृदयकी शुद्धि भी होगी। इसी प्रकार भाव-परिवर्तन मात्रसे प्रत्येक लौकिक-कर्मको पारलौकिक फल भी देने वाला बनाया जा सकता है।

श्राद्ध-तर्पणादि केवल पारलौकिक फल देने वाले कर्म हैं। प्रत्यक्ष फल इतना नहीं है। प्रत्यक्षमें तो लोगोंको इन कर्मोंमें समय, सामग्री और श्रमका व्यय मात्र दीखता है।

बहुत कर्म ऐसे हैं कि लौकिक-पारलौकिक दोनों फल प्राप्त होता है। जैसे

आप भूखेको भोजन देते हैं तो समाजमें एक व्यक्तिकी रक्षा होती है। आप चाहें या न चाहें, कम-से-कम उसकी दृष्टिमें आपका मान बढ़ जाता है। दानका पुण्यतो आपको प्राप्त ही हुआ। आप मन्दिरमें जाकर पूजा करते हैं तो वहाँकी शांति-सुरभि आदि आपके चित्तको तथा शरीरको तो सुख-स्वास्थ्य देती ही हैं, आपको पूजाका फल भी प्राप्त होता है।

एक मित्र सूर्य नमस्कार करते थे- मंत्रोंके साथ। उनके शरीरको व्यायाम करनेका लाभ तो होता ही था, भगवान सूर्यके प्रति श्रद्धा एवं आराधनाका पुण्य भी उन्हें प्राप्त होता था।

इस प्रकार कर्मका लौकिक-पारलौकिक दोनों ही फल होता है।

●●

भगवान्‌का दयालुतापूर्ण न्याय

न्याय और दयाका सामान्य दृष्टिसे कोई सम्बन्ध नहीं। न्याय सर्वदा कठोर होता है। उसमें दयाके लिए स्थान नहीं। परन्तु जिन सर्वेशमें समस्त विरोधी गुण एक साथ निवास करते हैं, उनमें यदि न्याय और दया दोनों साथ रहें, तो कोई आश्चर्य नहीं। वे न्यायकारी भी हैं और दयालु भी। उनका न्याय भौतिक निर्मम न्याय नहीं। यद्यपि उसमें दण्डको स्थान है, पर कम-से-कम वह दयासे भरा हुआ न्याय है। भगवान्‌ने अपने न्यायकी ओर संकेत किया है-

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छन्ति निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥

(गीता-९/३०-३१)

चाहें कोई अत्यंत दुराचारी भी हो परन्तु अनन्य भावसे मेरा भजन करे तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उसने अच्छा निश्चय किया है। (वह और अधिक दुराचारी रह नहीं सकता) जल्दी ही धर्मात्मा हो जाता है। शाश्वत शांति

प्राप्त करता है। हे कुन्तीपुत्र अर्जुन, समझ लो कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।

दुराचारी भी अनन्य भजन करके शाश्वत शांति प्राप्त करता है। यह हे भगवदीय दयापूर्ण न्याय। इसमें भक्तके प्रति कोई पक्षपात किया गया हो, ऐसी बात नहीं। कर्मका विधान ही इस प्रकार बनाया गया है कि जीवको कर्म-बन्धनसे छूटनेका अधिकसे अधिक अवसर मिले।

अच्छा होगा कि प्रारब्धचयनको समझ लिया जाय। इससे दयापूर्ण प्रभुका न्याय सरलतासे समझमें आ सकेगा। सब जानते हैं, कि एक मनुष्ययोनि ही कर्मयोनि है, और शेष सब भोगयोनियाँ हैं। मनुष्य योनिमें किये गये कर्मोंका भोग पानेके लिए दूसरे शरीर मिलते हैं। इसी मानव शरीरमें जीव कर्म-बन्धन बनाने या कर्मोंसे मुक्त हो जानेका अवसर प्राप्त करता है। जीव जो कर्म मानव शरीरमें करता है, वे क्रियमाण संचित बनते जाते हैं। इसी संचितसे प्रारब्धका चुनाव होता है।

मनुष्य मृत्युके समय अन्तिम क्षणमें जो सोचता हुआ शरीर छोड़ता है, उस अन्तिम भावको प्रधान बनाकर प्रारब्ध बनता है। भगवान्‌ने स्पष्ट किया है—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

(गीता-८/६)

हे अर्जुन! जिन-जिन भावोंको स्मरण करता हुआ जीव अन्त समयमें शरीर छोड़ता है, सर्वदा उसी भावसे भावित रहनेके कारण वह उसीको प्राप्त करता है।

'सदा तद्भावभावितः' में एक ध्वनि है। मनुष्यको अन्त समयमें वही भाव स्मृत होते हैं, जिनसे जीवनमें वह सर्वदा भावित रहता है। जीवनमें जिनका अधिक-से-अधिक चिन्तन करता है। अथवा इससे यह भी भाव निकलता है, कि मानव शरीरका अन्तिम भाव दूसरे सब भोग-शरीरोंमें प्रधान रहता है। उसी भावसे वह जीव भोग-शरीरोंमें भावित रहा करता है।

मानवका प्राणान्त समयका भाव संचितमें-से उन संस्कारोंको आकर्षित कर लेता है, जिनके साथ समन्वित होकर वह एक शरीर धारण कर सके। इस प्रकार एक जन्मका प्रारब्ध बनता है। यह प्रारब्ध पुनः ऐसे संस्कारोंको आकर्षित

करता है, जो उससे सम्बन्धित होते हुए दूसरे शरीरका निर्माण करे। इस प्रकार प्रारब्धोंकी एक श्रृंखला बन जाती है और उन्हींके अनुसार जीवको नाना शरीरोंमें जाना पड़ता है। यह प्रारब्ध-श्रृंखला वहाँ तक बनती जाती है, जहाँ तक कि एक मानव शरीर बनाने योग्य प्रारब्ध न बन सके। मानव शरीर बनाने योग्य प्रारब्धपर श्रृंखला समाप्त हो जाती है। मानव शरीर प्राप्तकर जीव उस प्रारब्धको भोगता है और नवीन कर्म करता रहता है।

प्रारब्धके इस निर्माणमें भगवान्‌का न्याय रहता है। जीवको उसके कर्मफल स्वयं भोगने पड़ेंगे। इस न्यायमें भी उस दयामयकी दया रहती है। सञ्चितमें से अच्छेसे-अच्छे कर्मोंका फल जीव को प्रथम प्राप्त हो, यह व्यवस्था है। भोगयोनियोंके प्रारब्धोंकी श्रृंखला छोटी-से-छोटी बने और जल्दी-से-जल्दी जीवको मानव-शरीर प्राप्त हो, प्रारब्धोंके निर्माणमें यह प्रधान दृष्टि रहती है। मानव-शरीरका अन्तिम भाव अनुकूल संस्कारोंको आकर्षित करनेमें प्रभुकी ओरसे ऊर्ध्वगतिकी ओर प्रेरित होता है। अर्थात् वह ऐसे प्रारब्धका आकर्षण करे जिससे 'मानव-शरीर पानेका प्रारब्ध यथा-सम्भव निकट समन्वित हो सके, यह प्रेरणा रहती है। जीवको बार-बार यह अवसर दिया जाता है, कि मानव-शरीर प्राप्त करके वह संचितमें शेष पड़े दुःखद संस्कारोंको जला दे। कर्म-बन्धनसे छूट जावे और उन बुरे संस्कारोंको भोगनेका उसे अवसर न प्राप्त हो।

प्रारब्धके इस नियमको इस प्रकार हृदयंगम कर लेनेके पश्चात् 'क्षिप भवति धर्मात्मा' का रहस्य भली प्रकार समझमें आ जावेगा। यह भी समझमें आ जावेगा, कि प्रभु किस प्रकार भक्तवत्सल होते हुए भी पूर्ण समदर्शी हैं। भक्त और अभक्त दोनोंपर ही उनकी समान कृपा है।

जो व्यक्ति ईश्वराभिमुख हो चुका है, जो अनन्य भावसे भगवान्‌का भजन करता है, उसके अनन्य भावका परिणाम यह होगा कि मृत्युके समय उसे भगवान्‌का स्मरण होगा। फलतः वह संसार बन्धनसे छूट जावेगा। यदि मृत्युके समय उसे भगवान्‌का स्मरण न भी हो तो भी उसका दूसरा जन्म मानव-शरीरमें या देवरूपमें होगा, क्योंकि भगवद्भक्तिके संस्कार समस्त संस्कारोंसे श्रेष्ठ हैं। नियमानुसार मृत्यु-समयका अन्तिम संस्कार अपनेसे समन्वित होने योग्य उच्चसे उच्च संस्कारोंको आकर्षित करके प्रारब्ध बनाता है। अतः नवीन प्रारब्धके निर्माणमें वे-भजनके संस्कार अवश्य आ जावेंगे।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते। *(गीता- ६/४१)*

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्॥ *(गीता- ६/४२)*

वह योगभ्रष्ट पवित्र सम्पन्न लोगोंके घरमें अथवा बुद्धिमान योगियोंके कुलमें उत्पन्न होता है। यदि स्वर्ग न जाना हुआ तो उसे पुनः कोई उपयुक्त मानव-शरीर मिलता है। 'न मे भक्तः प्रणश्यति' भगवान् स्पष्ट कह रहे हैं, कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता। वह निम्न योनियोंमें पतित होकर विनाशी भावोंको प्राप्त नहीं करता।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्। *(गीता-६/४५)*

इस प्रकार अनेक जन्मोंमें अपने अधूरे साधनको पूर्ण करके साधक परमगतिको प्राप्त होता है। यह अनेक जन्म पशु प्रभृति शरीरोंमें नहीं होता। क्योंकि स्पष्ट कहा जा रहा है कि अनेक जन्मोंमें संसिद्धि-साधन-पूर्ण होकर यह साधन क्रम मानव शरीरमें ही चल सकता है। इस शंकाको कि साधकको पशुत्वादि भी प्राप्त हो सकता है, भगवान्ने स्पष्टरूपेण निवारण करते हुए कह दिया-

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते। *(गीता-६/४४)*

साधन करना तो दूरकी बात रही, जो यह जानना भी चाहता है, कि जीवात्माका परमात्मासे कैसे संयोग होता है, वह भी वैदिक कर्मकाण्ड जन्म-गतिसे पार हो जाता है। कर्मकाण्डका उद्देश्य है स्वर्ग प्राप्ति और वहाँसे मर्त्यलोकमें आनेपर धनवान् होकर पुनः यज्ञ करना। इस प्रकारका क्रम बराबर बनाये रखना। जो भगवान्के संयोगको जानना भी चाहता है, वह स्वभावतः इस आवागमन-चक्र को चलाना नहीं चाहेगा। वह शब्द-ब्रह्म- वेदके इस चक्रसे पार हो गया।

जाननेकी इच्छा होते ही जब शब्द ब्रह्मका अतिवर्तन हो जाता है, तो निम्न शरीरोंकी प्राप्तिका सन्देह रह ही नहीं जाता। इच्छा होनेपर जाननेका प्रयत्न और जाननेके पश्चात् साधन करना अनिवार्य हो जाता है। भगवान्की महत्ता जानकर कोई भी उनकी उपासना किये बिना रह नहीं सकता।

एक बार साधनमें लग जानेपर यदि प्रारब्ध या परिस्थितिवश पुरुष उसे पूर्ण न करके मायिक पदार्थोंमें लुब्ध भी हो जावे, तो भी दूसरे जन्ममें उसे साधन करनेका अवसर प्राप्त होता है। केवल अवसर ही नहीं प्राप्त होता, वह साधनमें स्वभावतः प्रवृत्त होनेके लिए विवश भी होता है।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रीयते ह्यवशोऽपि सः। *(गीता-६/४४)*

वह अपने पूर्व जन्मके उसी अभ्यासके द्वारा विवशता पूर्वक उसी साधनकी ओर खींचा जाता है। फिर उसी साधनको वहाँसे प्रारम्भ करता है, जहाँ प्रथम जन्ममें छोड़ दिया था। यह स्मरण रखना चाहिए कि पूर्व-जन्ममें यद्यपि साधनके अतिरिक्त और भी दूसरे सांसारिक कार्योंके करनेका अभ्यास था, परन्तु प्रारब्धके चुनावमें उच्च-से-उच्च संस्कारोंके आकर्षित होनेके कारण दूसरे जन्ममें साधनके संस्कार प्रारब्धमें आ गये और जीवको प्रेरित करने लगे। इस प्रकार क्षिप्रं भवति धर्मात्माकी पूर्णता हो गयी। लेकिन दूसरे भौतिक कर्मोंके संस्कार पारमार्थिक साधनोंके समान उच्च न होनेसे या तो वे संचितमें छूट गये अथवा प्रारब्धमें बहुत कम आ सके। वे प्रेरित नहीं कर सकते।

इस प्रकार प्रत्येक जीवको भगवान्की ओरसे अवसर दिया जाता है परित्राणका। कम-से-कम बुरे संस्कारोंका दण्ड उसे भोगना पड़े, वह व्यवस्था भी रखी गयी है। इसके फलसे भगवदभिमुख होते ही उसकी अधोगामिनी गति समाप्त हो जाती है। वह उस न्यायकारीको भक्त वत्सलके रूपमें प्राप्त करता है। मायाके गहन जाल उसे रोक नहीं पाते। एक-दो बार भले ही मायाका चाकचिक्य उसे मोहित कर ले, किन्तु उसका मायासे पार होना निश्चित है।

यह एक स्पष्ट सत्य है कि अपने कर्मोंका फल हमें स्वयं भोगना होगा। उसे न तो कोई दूसरा अपने सिर ले सकता और न हटा सकता है। इसके साथ ही साथ यह भी सत्य है, कि यदि हम उस परम प्रभुपर विश्वास रखकर उसके चरणोंमें लगनेका प्रयत्न करते रहें तो पिछले कर्म हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकते। उनमें-से शुभ कर्मोंके संस्कार हमारी सहायता करेंगे और अशुभ कर्मोंके संस्कार पड़े रहेंगे। वे तब तक पड़े रहेंगे, जब तक हमारे साधनकी पूर्णता उन्हें भस्म न कर दे। एक बार प्रभुके चरणोंमें लग जानेके पश्चात् उनका कार्यकारी होना असम्भव है। यही भगवान्की दयापूर्ण न्याय-व्यवस्था है।

●●

प्रारब्ध और कर्मस्वातन्त्र्य

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

(गीता १८/६१)

'अर्जुन! ईश्वर समस्त प्राणियोंके हृदयमें रहता है। यन्त्रपर चढ़ेके समान सब प्राणियोंको वह अपनी मायासे घुमाता रहता है।'

नटं मरकट इव सबहि नचावत।
रामु खगेस बेद अस गावत॥

(रामचरितमानस ४/६/२४)

प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥

(गीता ३/३३)

'प्राणी अपने स्वभावके अनुसार ही व्यवहार करते हैं। इसमें निग्रह क्या करेगा!'

एक ओर ऐसी बातें हैं, जो कम नहीं हैं। इनका समर्थन ही प्रारब्धवाद करता है। फल होगा कोई तो किसी-न-किसी क्रियाके माध्यमसे होगा। जब वह फल होना ही है, तो किसी-न-किसी क्रियाके माध्यमसे होगा। जब वह फल होना ही है, तो क्रिया भी वही होगी। किसीको लाठीसे चोट खाना है और अमुकके हाथसे खाना है तो लाठी चलानेमें वह अमुक स्वतन्त्र कहाँ है!

इसीके साथ फलित ज्योतिषको और रख लीजिए। बच्चेके उत्पन्न होते ही उसकी कुण्डली बनती है। उस कुण्डलीमें बतलाया गया है कि बच्चा धार्मिक होगा या अधार्मिक; सदाचारी होगा या कदाचारी। अब बच्चेके लिए धार्मिक जीवन व्यतीत करनेकी स्वतन्त्रता कहाँ है?

इसके विपरीत दूसरी ओरसे इस प्रश्नको देखें तो बात दूसरी ही दिखलाई पड़ती है। इतने धर्मशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र कर्ताके लिए ही तो हैं। यदि कर्ता कर्म करनेमें समर्थ न हो तो 'यह करो और यह मत करो' इस आज्ञाका क्या अर्थ? शास्त्र तो सब विधि-निषेधसे भरे पड़े हैं। विधि-निषेधका विधान स्वतन्त्र कर्ताके लिए ही होता है।

यदि कर्ता स्वतन्त्र नहीं है और उससे कोई दूसरा बलपूर्वक शुभ या अशुभ कर्म करा लेता है तो वह पुरस्कार या दण्डका पात्र हो कैसे सकता है? शास्त्र तो मनुष्यको पाप-पुण्यका कर्ता और उनके फलका भोक्ता मानता है। इसका अर्थ ही है कि मनुष्य नवीन पाप-पुण्यरूप कर्म करनेमें स्वतन्त्र है-

कर्मण्येवाधिकारस्ते। *(गीता २/४७)*

'कर्म करनेमें ही तुम्हारा अधिकार है।' भले फलमें अधिकार न हो, कर्म करनेमें तो अधिकार है ही। मनुष्ययोनि कर्मयोनि है। इसका अर्थ ही यह है कि मनुष्यको कर्म करनेमें स्वतन्त्रता प्राप्त है।

अब यहाँ प्रश्न आता है कि बात क्या है? ईश्वर सबको अपने इच्छानुसार चलाता है, सब अपनी प्रकृतिके परतन्त्र हैं, प्रारब्धानुसार व्यक्तिका जीवन बनताहै और जन्मकुण्डली प्रारब्ध की सूचक है; इन बातोंके साथ मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है, इस बातका क्या मेल है? क्या समन्वय है इसका? हमारी स्वतन्त्रताकी सीमा क्या है और कहाँ पहुँचकर हम परतन्त्र हो जाते हैं?

इन दोनों तथ्योंमें समन्वय है और उस समन्वयको हृदयंगम कर लेनेपर कर्म-सिद्धान्तके सम्बन्धमें कहीं कोई शंका नहीं रह जाती।

नेत्रका देवता सूर्य है। सूर्यके (चन्द्रमा, विद्युत, अग्निकी ज्योति भी घूम फिर कर सूर्य-ज्योति ही है) प्रकाशमें, सूर्यकी शक्तिसे नेत्र रूपको देखते हैं। अत: कहना यही उचित है कि सूर्यकी प्रेरणासे ही सब कुछ देखा जाता है; किन्तु सूर्य केवल नेत्रकी सत्ता एवं शक्ति देने वाला है। आप कहीं कुदृष्टि डालें अथवा स्नेहपूर्ण शुभ दृष्टि, यह आपपर निर्भरहै। इसमें आप स्वतन्त्र हैं। बिजलीकी शक्ति 'शक्ति भवन' (Power House) से ही आती है। वह शक्ति (Current) न हो तो कुछ भी कार्य नहीं हो सकता। उसके बिना आप सर्वथा असमर्थ हैं। पर उस शक्तिके द्वारा आप रोशनी कर सकते हैं, पंखा चला सकते हैं, मिल-मशीन चला सकते हैं, किसीका रोग-नाश कर सकते हैं, स्वयं जल सकते हैं, दूसरोंको जला सकते हैं। इस सदुपयोग असदुपयोगमें आप स्वतन्त्र हैं। पर फल तो उस कर्मके अनुसार भोगना ही पड़ेगा। इसी प्रकार अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदयमें रहकर सबको सत्तास्फूर्ति देता है; किन्तु वह निर्विशेष है। वह आपको पाप या पुण्यमें नहीं लगाता। आपको सत्ता-स्फूर्ति देना उसका कार्य है और उस सत्ता-स्फूर्तिको किधर लगाना, इसमें आप स्वतन्त्र हैं।

हमारे बहुत कम ऐसे कार्य हैं, जिनसे सृष्टिमें कोई महत्वपूर्ण उथल-पुथल होती है। सृष्टिका जो कर्ता, पालक, नियन्ता है, वही जानता है कि सृष्टि कैसे चलेगी। अतः सृष्टिमें जिन कार्योंसे महत्वपूर्ण उथल-पुथल हो सकती है, उस कार्यको करनेमें तो कोई स्वतंत्र नहीं है। किसीमें उसे करनेकी शक्ति हो, तो भी सृष्टिका नियंता उसे मनमानी नहीं करने देगा। लेकिन सामान्य कार्योंमें, हमारे दैनिक शुभाशुभ कर्मोंमें हमे पूरी स्वतंत्रता प्राप्त है। जैसे माताके सामने उसके छोटे बच्चे खेलते हैं; माता उन्हें धूल-कीचड़में भी खेलने देती है, अपने खेलमें एक बड़ी सीमा तक वे स्वतंत्र हैं; किन्तु घरमें मनमानी तोड़-फोड़ और परस्पर एक-दूसरेका सिर फोड़नेमें वे स्वतंत्र नहीं हैं; इसी प्रकार सृष्टिका सम्पूर्ण नियंत्रण ईश्वरके हाथमें हैं; किन्तु मनुष्यको बहुत बड़ी सीमा तक शुभाशुभ कर्म करनेकी स्वतंत्रता है। केवल सृष्टिमें बड़ी उथल-पुथल करनेमें वह स्वतंत्र नहीं है। ऐसा कुछ होता है तो उसमें जो लगते हैं, वे उस अन्तर्यामीके लगानेसे ही लगते हैं। उस समय वे वैसा न करनेमें स्वतंत्र नहीं होते।

अब प्रकृतिकी परतंत्रता कहाँ तक है, यह भी देख लेना चाहिए। प्रकृतिका अर्थ है- स्वभाव! यह दो प्रकारका होता है- एक जन्मजात और दूसरा अभ्यासज। स्वभाव जन्मजात हो या अभ्यासज, दोनों बदल सकते हैं; किन्तु उनको बदलनेके लिए दृढ़ प्रयत्न और पर्याप्त लंबा समय चाहिए। सामान्य रूपमें कोई परिस्थिति आनेपर व्यक्ति स्वभावके अनुसार ही व्यवहार करता है।

महर्षि दुर्वासाने भी कई बार अपराध क्षमा किया; किन्तु तब, जब बहुत सावधान-चित्त थे। उनकी आदत क्रुद्ध होकर शाप देनेकी है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिकी कुछ आदत होती है। उसीके अनुसार वह परिस्थिति आनेपर व्यवहार करेगा। दीर्घकालीन अभ्याससे वह बदल सकती है। इसलिए आदतके अनुसार ही कर्म करनेमें हम परतंत्र हैं, ऐसा कहा नहीं जा सकता। आपकी आदत पड़ गयी है शराब पीनेकी; सिगरेट पीनेकी, तो यह आदत कैसे पड़ी? आपने ही तो इसको बनाया। अतः आप इसे बनाने-बिगाड़नेमें स्वतंत्र हैं। इसके अनुसारजो कर्म होता है उसका दायित्व आपका ही है।

ऐसा भी तो नहीं हैं कि हम सभी काम आदतके वश ही करते हों। जीवनके बहुतसे काम हम सोच-समझकर योजना बनाकर करते हैं। इनको करने, न करनेमें, तो हम सर्वथा स्वतंत्र होते हैं। आदत तो बदलनेके प्रयत्नमें भी हम स्वतंत्र ही हैं।

ईश्वरकी परतंत्रता सामान्य व्यक्तिके लिए सामान्य कार्योंमें कुछ नहीं है। व्यक्ति-विशेषके लिए, बहुत अधिक साधन-शक्ति रखने वालोंके लिए, उनके ऐसे कार्योंमें जिनसे सृष्टिमें कोई बड़ी उथल-पुथल होती हो, अवश्य ईश्वरकी परतंत्रता है। स्वभावकी जो परतंत्रता जीवनमें है।, वह हमारे अभ्यासकी बनायी है और उसके कारण हुए किसी कर्मके दायित्वसे हम बचते नहीं है। इन दोनोंकी अपेक्षा प्रारब्धकी परतंत्रता कहीं अधिक है।

जीवनमें हम जो कुछ करते हैं, उसमें दो प्रकारके कर्म होते हैं। एक वे जो बाह्य जगत्में कोई स्थूल परिणाम नहीं उत्पन्न करते और दूसरे वे जो जगत्में स्थूल परिणाम उत्पन्न करते हैं। इनमें-से पहली कोटिके कर्मोंका तो प्रारब्धसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इन्हें करने, न करनेमें हम पूर्णतः स्वतंत्र हैं। जैसे किसीके प्रति दुर्भावना करनेसे उसका कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, इस प्रकारके मानसिक कर्म हमें केवल अपवित्र ही करते हैं और वे शुभ हुए तो पवित्र करते हैं।

जो कर्म स्थूल परिणाम उत्पन्न करते हैं, वे भी सदा सफल नहीं होते। जैसे कोई चोर चोरी करने गया। उसने खिड़की तोड़ी, घरमें तिजोरी तोड़ी; किन्तु लोग जग गये। बिना कुछ लिए भागना पड़ा। किसीने आपको लाठी मारी; किन्तु आपको लगी नहीं। यहाँ कर्त्ताको प्रेरणा देकर बाध्य करनेवाला कोई प्रारब्ध नहीं था। कर्त्ता अपनी दुर्भावनावश ही कर्ममें प्रवृत्त हुआ। वह ऐसा न करनेमें भी स्वतंत्र था।

स्थूल परिणाम जहाँ उत्पन्न हो गया, वहाँ भी कर्म नवीन हुआ या प्रारब्ध प्रेरित हुआ, यह जाननेका कोई उपाय नहीं है। आपने किसीको लाठी मारी और उसका सिर फूट गया। उसका सिर तो उसके प्रारब्धसे फूटा; किन्तु वह दूसरे प्रकार भी तो फूट सकता था। लाठी मारनेका काम आप करते ही, यह अनिवार्य तो नहीं था। यह आपके हाथसे ही होना था तो यह भी तो हो सकता था कि आपके अनजानमें हाथकी लाठी उसके सिरपर गिर जाती; आप वृक्षपर दातून तोड़नेको लाठी चलाते और उसे लग जाती। अतः जान-बूझकर लाठी चलाने न चलानेमें आप स्वतंत्र थे। इनमें प्रारब्धने आपको परवश नहीं किया। इस कर्मके उत्तरदायी आप ही हैं।

मनुष्यके कर्म-स्वातंत्र्यका विचार करते समय गीताके इन श्लोकोंपर ध्यान अवश्य दिया जाना चाहिए—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चम॥
शरीरवांमनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरितं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वात् न स पश्यति दुर्मतिः॥

(*गीता, १८/१४-१६*)

१. अधिष्ठान (परमात्मा), २. कर्ता (व्यक्ति), ३. नाना प्रकारके उपकरण, ४. अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ और इनमें, ५. प्रारब्ध-ये पाँचों मिलकर उन सब कर्मोंमें कारण होते हैं, जिन्हें मनुष्य शरीरसे, वाणीसे या मनसे प्रारम्भ करता है। वे शुभ हों या अशुभ, इसमें जो केवल अपनेको ही कर्त्ता मानता है, वह अकृत-बुद्धि (विचारहीन) होनेसे दुर्मति है। यह ठीक नहीं समझता।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (*गीता २/४७*) 'कर्म करनेमें मनुष्यका अधिकारहै-किन्तु कहाँ तक? मानसिक कर्म तथा वाणीसे बोलनेमें भी उसका अकेला कर्तव्य नहीं है? इसमें भी पाँच-पाँच कारण हैं। इन पाँचमें-से एक वह है।

हम जो कर्म अनजानमें करते हैं, उनका फल पाप या पुण्य हमें नहीं होता। जैसे सोते समय हाथ लगकर मच्छर मर गया या ठीक देखकर चलनेपर भी पैरसे कोई चींटी दब गयी तो इसका दोष हमें नहीं होता। इसका अर्थ है कि अहंकारपूर्वक-कर्तव्य पूर्वक किये कर्मका ही पाप-पुण्य कर्त्ताको होता है। यह कर्तव्य स्थापित करनेमें हम स्वतंत्र हैं और यही सबसे बड़ा कर्म-स्वातंत्र्य मनुष्यका है। यही सब अनर्थोंका हेतु भी है—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥

(*गीता, १८/१७*)

'मैं कर रहा हूँ'—यह भाव कर्म करते समय जिसका नहीं रहता और कर्म हो जानेपर जिसकी बुद्धि 'मैंने किया'-इस प्रकार लिप्त होकर ऊहोपोहमें नहीं पड़ती, वह मार कर भी न किसीका मारता, न कर्म-बन्धनमें पड़ता है।'

भगवान् रुद्र प्रलय करते हैं। सृष्टिके सब प्राणी, लाख-लाख गायें और ब्राह्मण, साधक-सिद्ध सब मरते हैं; किन्तु उन प्रलयंकरको क्या कोई पाप लगता है? उन्हें कर्म-बन्धन होता है?

भगवान् सबके हृदयमें हैं और सामान्य रूपमें सबका नियन्त्रण करते हैं; किन्तु जो अपनेको उनपर ही छोड़ देता है, अपनेको सर्वथा उनके हाथका यन्त्र बना देता है, उसका पूरा संचालन फिर वही करते हैं। उसका अपना अहंकार तो चला ही गया। अतः जब वह कर्म करनेमें अपनेको स्वतन्त्र ही नहीं देखता तो उसके लिए न विधि-निषेध है और न उसे कर्म-बन्धन प्राप्त होता है। यह अपने देहसे हुए शुभाशुभ कर्मोंका उत्तरदायी नहीं रह जाता। पर ऐसी परिस्थितिमें अहंकार-प्रसूत कामना-आसक्ति न रहनेके कारण उससे अवैध कर्म बन नहीं सकते। लेकिन जब तक सचमुच चित्त ऐसा अहंता-ममता शून्य नहीं बन जाता, मनुष्यको सदा शुभमें ही लगनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिए और अपनेको इसमें पूर्ण स्वतन्त्र मानकर ही परमार्थ-साधनमें भी जुटे रहना चाहिए।

सच बात तो यह है कि मनुष्य अर्थ, धर्म, काम (भोग) के क्षेत्रमें परतन्त्र ही है, किन्तु अज्ञानवश इन्हीं क्षेत्रोंमें प्रयत्न करनेमें लगा है। मनुष्य स्वतन्त्र है मोक्षके क्षेत्रमें। अन्तर्मुख होने- पारलौकिक साधनमें। इसका जगतपर प्रभाव नहीं पड़ता। यही मनुष्यकी स्वतन्त्रताका क्षेत्र है। यही मनुष्यकी स्वतन्त्रता है और इसीमें लगना मनुष्यकी सफलता है।

●●

प्रारब्ध परिवर्तित कैसे हो सकता है?

'अवश्यमेव भोक्तव्यं, कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

'शुभ या अशुभ कर्म जो किया गया है, उसे अवश्य भोगना पड़ता है।' बात ठीक है; किन्तु ऐसा नियम कहाँ है कि उसे इतने जन्मोंमें अथवा इतने कालमें ही भोगना पड़ता है। नियम तो यह भी नहीं है कि केवल कर्ता ही कर्मका फल भोगे। कर्ताके कर्ममें अनेक हिस्सेदार होते हैं, यह भी नियम है। प्रारब्ध कहते हैं-अनन्त संचितमें-से लेकर कुछ कर्मोंके फल-रूप आयु, भोग जाति आदिके निर्माणको। यह अवश्य ही अपरिवर्तनीय है। प्रारब्धका फल भोगना ही पड़ता

है। परन्तु कर्म करनेमें स्वतन्त्र मनुष्य प्रबल उग्र कर्मके द्वारा नवीन प्रारब्धका निर्माण कर सकता है, फलदानोन्मुख प्रारब्धके बीचमें वह अपना फल भुगता देता है। इस दृष्टिसे प्रारब्धमें परिवर्तन होता है, यह बात भी शास्त्रको मान्य है। कुछ ऐसे और हेतु भी होते हैं, जिनसे प्रारब्धमें परिवर्तन हो सकते हैं। केवल सिद्धान्तरूपसे ही मान्य यह नहीं है, इसके बहुत अधिक उदाहरण भी वहाँ हैं।

नवीन प्रारब्धका निर्माण या प्रारब्धमें परिवर्तनके हेतु अग्रवत् हैं—

१- व्यक्तिके द्वारा किया इसी जन्मका उग्र पाप या पुण्य।

२- व्यक्ति द्वारा पुण्य-प्रारब्धके फलकी अस्वीकृति।

३- किसी अन्यको अपने पुण्य-प्रारब्धका (अथवा इस जन्मके पुण्य कर्मका) दान।

४- सविधि देवाराधन अनुष्ठान।

५- कोई अन्य समर्थ पाप ग्रहण कर ले।

६- देवता, ऋषि, मुनि या किसी अन्यका शाप या वरदान।

७- देवता, सिद्ध, पितर प्रेतादि किसीका विशेष प्रबल हस्तक्षेप।

१. उग्र पाप या पुण्यसे भाग्य-परिवर्तन

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युग्रपुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते॥

(स्मृति)

'तीन वर्ष, तीन महीना, तीन पक्ष अथवा तीन दिनमें ही इसी जीवनमें मनुष्य अपने अत्युग्र पुण्य या पापका फल-भोग प्राप्त करता है।

आपके द्वारा जो बहुत प्रबल पाप या पुण्य होता है, यह संचितमें न जाकर प्रारब्धमें ही सम्मिलित हो जाता है और इस प्रकार वह शीघ्र फलोन्मुख बन जाता है। अनेक बार उग्र पापका फल उनके कर्ताको इसी जन्म में भोगते देखा गया है।

२. पुण्य प्रारब्धके फल की अस्वीकृति

नियम यह है कि अपराधका दण्ड अस्वीकार करनेमें कोई स्वतन्त्र नहीं है। किसीने चोरी की और पकड़ा गया; अब वह कहे-'मैं चोरीके दण्डको भोगना अस्वीकार करता हूँ' तो क्या न्यायालय उसकी बात मानेगा? इसी प्रकार हमसे अनजानमें या जानबूझकर जो पाप-अशुभ कर्म हुए हैं, उनका फल दुःख भोगना हम अस्वीकार नहीं कर सकते; किन्तु पुरस्कार ग्रहण करना, न करना हमारे हाथ में है। किसीको किसी कामके लिए प्रशासन पुरस्कृत करना चाहे तो जिसे पुरस्कार मिलना है, वह उस पुरस्कारको अस्वीकार कर दे सकता है; पुरस्कार ग्रहणके लिए उसे विवश नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार पूर्वजन्मके पुण्योंके फलस्वरूप जो सम्पत्ति, यश, सुविधादि आती है, उसका उपभोग अस्वीकार किया जा सकता है।

बहुतसे लोग त्यागका व्रत लेते हैं, त्यागका वेष बनाते हैं और फिर जब उनके पास वैभव आता है, बड़े-बड़े भवन बनते हैं, मोटरें जुटती हैं; धन एवं भोग सुलभ होते हैं तो कहते हैं-'यह सब प्रारब्धसे आया, प्रारब्धको कैसे टाला जा सकता है।'

धन-वैभव-भोग एवं ख्याति प्रारब्धसे आते हैं, यह बात ठीक है। किन्तु उनका त्याग करनेमें हम सदा स्वतन्त्र हैं। हम उनका उपभोग करनेमें लग गये, यह हमारी दुर्बलता है। हमारी भोगलिप्साने यह कराया। त्यागका संकल्प और वेष लेकर भोगमें हम लगे तो पतन हुआ हमारा। प्रारब्धने हमें इसके लिए विवश नहीं किया।

यदि मनुष्य पुण्यका भोग त्यागनेमें स्वतन्त्र न हो तो त्यागका कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। फिर तो त्याग भी धनके चोरी जानेके समान एक प्रारब्ध प्रेरित क्रिया बन जायेगा। जिन नरेशोंने-चक्रवर्ती नरेशों तक ने-धन-राज्य त्यागकर वनमें गमन किया क्या प्रारब्धमें उनके पास धन, राज्य, वैभव नहीं था?

त्याग, तपस्या, दान आदिकी महिमा ही इसीलिए है कि इनमें प्रारब्धसे सुख-सुविधा-सम्पत्ति प्राप्त है और स्वेच्छासे उसे त्यागकर कष्ट, असुविधा, निर्धनता को स्वीकार किया जाता है। मनुष्यका कर्म-स्वातन्त्र्य ही यह है कि वह प्रारब्धके पुण्य-फलोंको अस्वीकार करके दान-धर्म, तप-त्याग, साधन-भजन करनेमें स्वतन्त्र है।

३. किसी अन्यको अपने पुण्य-प्रारब्ध अथवा इस जन्मके पुण्यका दान

एक किसान खेती करता है। उसके खेतमें अन्न होता है। यह अन्न उसके कर्मका फल है। एक व्यापारी व्यापार करता है और धन कमाता है। यह धन उसके कर्मका फल है। अधिक-से-अधिक आप यह कह सकते हैं कि अन्न या धन उसके पूर्वजन्मके कर्मका-प्रारब्धका फल है। इस जन्मके कर्मका फल हो या पूर्वजन्मके कर्मका फल। पर किसान अपने अन्नको अथवा व्यापारी अपने धनको बिना किसी दुरभिसन्धिके किसीको देता है तो कोई अपराध है? कोई उसे रोकने वाला है? कोई दण्ड है उसके लिए?

जैसे कर्मका फल अन्न या धन दिया जा सकता है, वैसे ही कर्म भी दिया जा सकता है। एक व्यक्ति आपके किसी उद्योगमें बिना कुछ पारिश्रमिक लिए कुछ समय काम करदे तो उसने अपना कर्म दिया या नहीं? उसके कर्मका फल आपको ही तो मिला। 'श्रम-दान' शब्द 'कर्म-दान' का ही तो नाम है।

जब कर्मदान किया जा सकता है, तब इस जन्मका ही कर्मदान किया जा सके, ऐसा कोई नियम नहीं है। पूर्वजन्मका जो कर्म है, उसमें-से भी दान किया जा सकता है। एक व्यक्तिने आपको धन दिया। यह धन अब उसके बैंकके खातेमें-से निकल गया और आपके बैंकके खातेमें जमा हो गया। अब इसका फल आपको मिलता है।

व्यक्ति अपने इस जन्मके पुण्यदान कर सकता है और प्रारब्धके पुण्योंका दान कर सकता है। इतना तो सरलतासे हो जाता है। अपने संचितके पुण्योंका भी दान किया जा सकता है; किन्तु उसके लिए प्रबलतम संकल्प आवश्यक होता है; क्योंकि वह फलदानोन्मुख कर्म नहीं है। उनकी स्थिति वह है, जो बैंकमें 'फिक्स-डिपाजिट' की होती है। अवधिसे पूर्व उसको उपयोगमें लेनेके लिए विशेष कुछ करना पड़ता है।

कर्म संस्कार क्या है? यह एक प्रकारके सिक्के हैं, जो स्वतः समयपर भुन जाते हैं। नोट या सिक्का क्या है? यह श्रमका एक प्रतीक है। मजदूरने दिनभर श्रम किया और उसे कुछ सिक्के मिले। इन सिक्कोंके द्वारा कालान्तरमें चाहे जब वह अपने उपयोगकी वस्तुएँ बाजारसे ले सकता है। इसी प्रकार कर्मोंके संस्कार एक प्रकारके ऐसे सिक्के हैं, जो अदृश्य हैं और समयपर अपना फल वे स्वयं

उपस्थित कर देते हैं। जैसे अपने द्वारा उपार्जित सिक्के आप किसीको दान कर देनेमें स्वतन्त्र हैं, वैसे ही पुण्यका दान करनेमें भी आप स्वतन्त्र हैं।

पुण्यदान ही नहीं, आयुदान तक किया जा सकता है; क्योंकि प्रारब्ध कर्मोंके संस्कारसे ही आयु भी हमें प्राप्त हुई है। लेकिन यह दान स्थूल वस्तुका दान नहीं है; अतः स्थूल वस्तुके समान हाथसे उठाकर तो दिया नहीं जा सकता है। यह तो सूक्ष्म संस्कारका दान है, और संस्कार होते हैं-चित्तमें; अतः ठीक संकल्पके द्वारा ही इनका दान किया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि पुस्तकमें लिखा संकल्प पढ़ा ही जाय, वैसे वह पढ़ा जाय हाथमें जल-अक्षत लेकर तो अधिक उत्तम है। उससे मनका संकल्प सच्चा और पुष्ट बनता है। पर उसको पढ़े बिना भी संकल्प किया जा सकता है। दृढ़ संकल्प व्यक्ति 'दे दिया' कहकर भी दे सकता है। इस प्रकार पुण्यदानकी घटनाओंका वर्णन पुराणोंमें बहुत है। लेकिन जैसे रुपया आप बैंकका चैक काटकर दे देते हैं। तो आपके मनमें यह नहीं आता कि वह अब आपके पास है, भले तब तक चेक भुनाया न गया हो; उसी प्रकार 'दे दिया' का संकल्प करनेपर आपके मनमें नहीं आना चाहिए कि आपके पास अमुक पुण्य है। यदि पुण्यका अभिमान रहता है तो आपका संकल्प झूठा है। जैसे खाली चेक किसीको दिया गया तो उसे धन नहीं मिलता, वैसे ही झूठे संकल्पसे किसीको कोई लाभ नहीं होता।

दान या उपहारमें मिला चेक जैसे पाने वालेके खातेमें जमा हो जाता है, वैसे ही पुण्यदान या आयुदान प्राप्त होनेपर प्राप्त करने वालेके प्रारब्धमें यह पुण्य या आयु सम्मिलित होकर तत्काल फलदानोन्मुख हो जाती है।

४. सविधि अनुष्ठान

प्रारब्ध भी हमारे ही कर्मोंका निर्माण है। अतः हमारे वर्तमान कर्म इसे प्रभावित नहीं करेंगे, ऐसी कोई बात नहीं है। सामान्य नियम यद्यपि यह है कि वर्तमान कर्म (क्रियमाण-कर्म) संचितमें सम्मिलित होकर आगे किसी जन्ममें फल देते है; किन्तु विशेष नियम यह भी है कि विशेष संकल्प लेकर जब कोई विशेष अनुष्ठान विधिपूर्वक करता है तो उस अनुष्ठानका कर्म-संस्कार प्रारब्धमें सम्मिलित होकर तत्काल अपना फल देता है।

शास्त्रोंमें विभिन्न कामनाओंकी पूर्तिके लिए विभिन्न जप-तप, देवाराधन एवं यज्ञादिके विधान हैं। अमुक कष्ट दूर करनेको अमुक दान-जपादि किया

जाना चाहिए, ऐसा वर्णन है। यदि प्रारब्धमें परिवर्तन सम्भव ही न होता तो इन सकाम अनुष्ठानोंका विधान ही क्यों होता?

फलित ज्योतिषका कोई उपयोग ही न हो और न कर्मविपाक शास्त्रका कोई अर्थ हो, यदि प्रारब्धके फलमें परिवर्तन न किया जा सकता हो। जो कुछ होना है, यदि वह अवश्य ही होना है, उसे मिटाया या घटाया नहीं जा सकता तो उसका पूर्वज्ञान प्राप्त करनेसे लाभ? लेकिन बात ऐसी नहीं है। ज्योतिष शास्त्रमें ग्रह शान्तिसे और कर्मविपाकशास्त्रमें जप-व्रत-दानादिसे पूर्वकृत अशुभ कर्मोंके फलसे बचनेकी बात मानी गयी है। यदि अनुष्ठान सविधि पूरा होता है तो उसका परिणाम अवश्य प्राप्त होता है।

महामृत्युञ्जय मन्त्रके सविधि अनुष्ठानसे भयंकरतम रोग मिटते देखे गये हैं और ज्योतिषियोंके द्वारा बतलायी गयी निश्चित मृत्यु भी टली है। ऐसे सब अवसरोंको संयोग कहकर टाला नहीं जा सकता। ध्यान रखनेकी बात यह है कि जो शास्त्र प्रारब्धका भोग अनिवार्य बतलाता है, वही उसमें परिवर्तनकी विधिका भी वर्णन करता है।

किसी भी अनुष्ठान-उपासना आदि से प्रारब्ध परिवर्तित होता है। सकाम कर्म (उपासना) से कामना पूरी होती है तो उसमें जो विशेष बात होती है, वे बहुत महत्वपूर्ण है।

१. केवल वह कामना-यह संकल्प पूरा होता है, जिसकी पूर्तिके लिए अनुष्ठान-उपासना की गयी। दूसरा कुछ नहीं होता।

२. उस कामनाकी पूर्ति से जिस सुखकी आशा की गयी थी, वह प्रायः नहीं होता। राजा अंगको यज्ञसे पुत्र तो हुआ, पर हुआ बेन जैसा कुपुत्र। किसीको राज्य मिला, पर बुढ़ापेमें, और उसका वंश नष्ट हो गया।

५. कोई समर्थ पाप-ग्रहण कर ले

जैसे आप किसीको अपना धन दे सकते हैं, वैसे ही किसीके ऋणको भी स्वीकार कर ले सकते हैं; किन्तु धन देने-जैसा सीधा काम ऋण स्वीकार करना नहीं है। धन तो आपके पास है, उसे आपने दे दिया। ऋण आप स्वीकार करें, इसके लिए आवश्यक है कि ऋणदाता भी स्वीकार करे और प्रशासन भी स्वीकार करे; इसके योग्य सम्पत्ति एवं विश्वास भाजनता आपमें होनी चाहिए।

जैसे किसीको पुण्यदान कोई कर सकता है, ऐसे ही किसीका पाप स्वीकार करनेकी योग्यता सबमें नहीं होती। पापका भोग कर लेना आप स्वीकार करें, इतनाही पर्याप्त नहीं है, कर्म-नियन्ता भी इसे स्वीकृति दे, यह आवश्यक है। अतः समर्थ पुरुष ही दूसरेका पाप स्वीकार कर सकते हैं ।

जब किसीका ऋण देना दूसरेने स्वीकार कर लिया तो पहला ऋण मुक्त हो गया। यदि किसी अपराधीको मिला दण्ड आपने भोगना स्वीकार किया और प्रशासनपर आपका इतना दबाव है कि वह इसे मान ले तो अपराधी दण्डसे बच गया। प्रायः ऐसी अवस्थामें पाप स्वीकार करने वालेको पूरा दण्ड नहीं भोगना पड़ता, क्योंकि उसने जो उदारता दिखलायी, दया की, यह पुण्य भी तो बना। अतः उसे अत्यल्प भोग ही प्राप्त होता है।

प्रारब्ध कैसे बदलता है?

किसीने अपना पुण्य दिया या पाप स्वीकार कर लिया अथवा सकाम अनुष्ठान किया, इससे प्रारब्धमें कैसे परिवर्तन होता है?

परिवर्तन चार प्रकारसे होता है—१. नवीन प्रबल कर्म संस्कार (प्रारब्ध) बनाकर। २. प्रारब्धके किसी फलोन्मुख संस्कारके संचितमें डालकर। ३. संचितसे किसी कर्मसंस्कारको बलात् प्रारब्धमें ले आकर। ४. प्रारब्धके संस्कारको अन्यत्र ले जाकर।

१- किसीके पुत्र नहीं है या किसीके पास धन नहीं है। इसका अर्थ है कि उसके प्रारब्धमें इन्हें देने वाले कर्मसंस्कार नहीं हैं। सकाम अनुष्ठानसे अथवा किसीके पुण्यदानसे ऐसा नवीन प्रारब्ध बन जा सकता है जो पुत्र या धन दे।

२- किसीको कोई गम्भीर रोग है। इसका अर्थ है कि उसके प्रारब्धमें उस रोगको देने वाले संस्कार विद्यमान हैं। जब कोई समर्थ यदि पाप ग्रहणकर लेता है तो प्रारब्धसे वह संस्कार उस पाप लेने वालेके प्रारब्धमें चला जायेगा।

३- ऐसा भी हो सकता है कि कोई समर्थ सिद्ध पुरुष कर्मनियन्ताको विवश कर दे कि वह रोग इस समय न हो। वह कभी दूसरे समय या अगले किसी जन्ममें उस जीवको हो। ऐसी अवस्थामें कर्मनियन्ता उस संस्कारको प्रारब्धसे हटाकर संचितमें डाल देगा। अनेक बार सकाम अनुष्ठानसे भी यही क्रिया होती है।

४- कोई शुभ फलप्रद नवीन प्रारब्ध नहीं बना। किसी अनुष्ठानसे या किसी

समर्थकी प्रेरणासे जो संस्कार प्रारब्धमें नहीं था, वह संचितसे लाकर प्रारब्धमें कर्मनियन्ताने मिला दिया। इससे वह नवीन संस्कार फलदानोन्मुख हो गया।

६. शाप या वरदानसे

देवता, ऋषि-मुनि, तपस्वी, सिद्ध भक्त, सती, सिद्ध योगी शाप या वरदान देनेमें समर्थ होते हैं। इनके अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति भी जब बहुत उत्पीड़ित होकर अत्यन्त दुःखी हृदयसे शाप देता है, अथवा दुखी, असहाय किसी सेवा सहायतासे सन्तुष्ट होकर हृदयसे आशीर्वाद देता है, तो उसका शाप अथवा आशीर्वाद भी कभी-कभी सफल हो जाता है।

किसीको भी शाप या वरदान देनेमें, शाप या वरदान देने वालेका पुण्य क्षय होता है। उसके जप-तपका फल क्षीण होता है, यह बात शास्त्रोंमें स्पष्ट आयी है। शाप या वरदानसे प्रारब्धमें परिवर्तन दोनों प्रकारसे होना सम्भव है-नवीन प्रारब्ध बनकर अथवा प्रारब्धसे किसी फलोन्मुख कर्मको संचितमें ले जाकर और संचितके कर्मको प्रारब्धमें लाकर।

मान लीजिए कि कोई किसीको वरदान देता। वरदान देने वालेके पुण्यको लेकर वरदान पाने वालेका नवीन प्रारब्ध बन सकता है और उसे उसका शुभ फल प्राप्त हो सकता है। इसके विपरीत जब कोई किसीको शाप देता है, तो जिसे शाप दिया गया है, उसके शुभ सुखोन्मुख कर्मसंस्कारको संचितमें ले जाकर और संचितसे अशुभफल देने वाले संस्कार प्रारब्धमें लाकर ही उसे शापका अशुभ फल दिया जा सकता है। ऐसा हो तो जाता है; किन्तु शाप देने वालेका तप एवं पुण्य इससे नष्ट होता है।

७. देवता, सिद्ध, पितर, प्रेतादि किसीके विशेष प्रबल हस्तक्षेपसे

देवता, सिद्धजन, पितर, यक्ष, भूत-प्रेतादिमें विशेष शक्ति होती है। इनमें भी शक्तिका तारतम्य होता है। किन्हींमें कम तो किन्हींमें विशेष प्रबल शक्ति होती है। अतः यह बात तो नहीं कि ये किसीके भी प्रारब्ध में हस्तक्षेप करके उसे दुःख या सुख दे सकते हैं; किन्तु अपनेसे दुर्बलके प्रारब्धको भी ये प्रभावित कर सकते

हैं। यहाँ दुर्बलता या सबलता मानसिक ही माननी चाहिए; क्योंकि ये सूक्ष्म शरीरको प्रभावित करके ही स्थूल-शरीरपर प्रभाव डाल सकते हैं।

इनमें भी किन्हीं-किन्हींमें यह शक्ति होती है कि किसीके प्रारब्धके कर्मको रोककर संचितमें पहुँचा दें और उसके संचित कर्मको प्रारब्धमें ले आकर उसे फलदानोन्मुख कर दें। जो काम कोई तपस्वी या योगी मनका नियन्त्रण करके कर सकता है, उसे एक सीमा तक ये सूक्ष्म शरीरधारी शक्तिमान् लोग भी कर सकते हैं।

यदि ऐसा मानें कि देवता, सिद्ध, पितर या प्रेत केवल प्रारब्ध भोगके ही निमित्त होते हैं; इनमें प्रारब्धको प्रभावित करनेकी क्षमता नहीं है तो फिर इनकी आराधना-उपासनाके विधान व्यर्थ हो जायेंगे। जो प्रसन्न होकर कुछ दे नहीं सकता, और अप्रसन्न होकर कुछ बिगाड़ नहीं सकता, उसकी सेवा-पूजा तो व्यर्थ है! किन्तु शास्त्रमें इन सबकी पूजाका विधान है और माना गया है कि ये इष्ट या अनिष्ट करनेमें समर्थ हैं।

परिवर्तनकी सीमा है

प्रारब्धमें परिवर्तन कहाँ तक, कितना हो सकता है, इसको कोई निश्चित नहीं कर सकता। यह तो इसपर निर्भर है कि प्रारब्धके वे संस्कार, जिन्हें परिवर्तित करना है, कितने बलवान् हैं और परिवर्तन करने वाली शक्तिमें नवीन कर्ममें क्षमता कितनी है।

अनेक बार सकाम अनुष्ठान असफल होते हैं; क्योंकि प्रारब्धका प्रतिबन्धक अनुष्ठानकी शक्तिसे बलवान् होता है। अनेक बार बड़े-बड़े लोगोंके शाप भी व्यर्थ हुए; क्योंकि जिसे शाप दिया गया, उसकी क्षमता बहुत अधिक थी। कोई पत्थर फेंका जा सकेगा या नहीं और कितनी दूर फेंका जा सकेगा, यह फेकने वाले की शक्ति पर निर्भर है। कोई मूर्ति बनेगी या नहीं, यह बनाने वालेकी योग्यता और औजार तथा जिसकी मूर्ति बनती है, उस धातु पर निर्भर है। इसी प्रकार प्रारब्धमें परिवर्तनका होना न होना, कम या अधिक होना परिवर्तन करने वालेकी शक्ति तथा प्रारब्धके संस्कारकी शक्तिपर निर्भर है।

●●

कर्मभोग एवं कर्मप्रायश्चित्त

'गहना कर्मणो गतिः॥'

(गीता-४/१७)

कर्मकी गतिको गहन करनेका तात्पर्य है। 'जो कर्म करता है, वही फल भोगता है' और 'कर्मका फल भोगना ही पड़ता है'-इतनी सीधी बात नहीं है।

औरु करै अपराधु कोउ, और पाव फल भोगु।
अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानै जोगु॥

(रामचरितमानस-२/७७)

आपको यह बात अटपटी लगती है या नहीं? गीताका यह श्लोक भी यहाँ विचारणीय है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

(गीता-४/१८)

जो कर्ममें अकर्म देखता है और अकर्ममें कर्म देखता है, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है। वह युक्त है। वह समस्त कर्मोंको करनेवाला है।

कर्म सब हो रहे हैं; किन्तु आसक्ति नहीं है, उनमें कर्तृत्व का अहंकार नहीं है तो व्यक्ति अकर्ता है। और कर कुछ नहीं रहे हैं; किन्तु मन 'यह करो' 'यह करो' की योजनाएँ बना रहा है तो वह देहसे कुछ न करनेवाला कर्ता ही है।

प्रधान सेनापति या राष्ट्रपति युद्धमें तोप चलाते हैं या बन्दूक? लेकिन युद्धका कर्ता कौन माना जाता है? विजय किसकी कही जाती है? सेवक जो काम करते हैं, उसका पाप-पुण्य, लाभ-हानि स्वामीका है या नहीं?

आप कहेंगे कि जिसमें कर्तृत्वका अहंकार है, कर्मफल उसे होता है। स्वामीमें कर्तृत्वका अहंकार है। वह कर्ता भले ही न हो, कारयिता है; अतः फलभोग उसे प्राप्त होना ही चाहिए। लेकिन आपने व्रत-महात्म्यमें शिवरात्रि-व्रतका महात्म्य पढ़ा होगा। एक हिंसक शिकारी दिनभर वनमें भटकता रहा। कुछ मिला नहीं भोजनको; अतः भूखा रहा। रात्रिमें वन्य पशुओंसे बचनेके लिए बेलके पेड़पर

चढ़ गया। प्राण भयसे रात्रि भर जागता रहा। संयोग ऐसा कि उस वृक्षके नीचे शिव-लिंग था। शिकारीके हिलने-डोलनेसे बेलपत्र टूटते तो शिव-लिंगपर गिरते। यह उसका शिव-रात्रि-व्रत तथा शिवार्चन मान लिया गया। कहाँ उसमें कर्तृत्वका अहंकार है?

एक दूसरा उदाहरण

वृन्दावनमें यमुना-किनारे एक टीलेपर एक अच्छे सन्त खड़े-खड़े श्रीब्रजराजकुमारकी लीलाओंका चिंतन कर रहे थे। कोई ऐसी लीला चित्तमें आयी कि उन सन्तको हँसी आ गयी। संयोग ऐसा कि उसी समय यमुनाजीसे स्नान करके कोई दोनों पैरोंसे लँगड़ा, कुबड़ा साधु उधर आ रहा था। सन्तको हँसते देखकर उसे लगा कि 'ये मुझे देखकर हँस रहे हैं।' उसे बहुत दुःख हुआ। इधर संतके हृदयमें भगवल्लीलाका दर्शन बन्द हो गया। बहुत प्रयत्न किया उन्होंने, बहुत व्याकुल हुए, किन्तु फल कुछ नहीं निकला।

'तुमसे किसीका अपमान हुआ है। किसीका हृदय तुम्हारे कारण दुःखी हुआ है। उससे क्षमा माँगो।' जब उन संतने दूसरे महापुरुषसे अपना दुःख सुनाया तो उन्हें यह उत्तर मिला। बहुत सोचनेपर उनको स्मरण आया कि उस समय आस-पास तो एक साधु ही दीखा था। ढूँढ़कर वे उसके समीप गये।

'बच्चे-बड़े सब मुझे देखकर हँसते हैं। वे अज्ञानी हैं, अतः हँसें तो ठीक है; किन्तु आप संत होकर, ज्ञानी होकर भी हँसते हैं। यह शरीर कुछ मेरा बनाया है?' लँगड़े साधुने उन संतको खरी-खरी सुनायी। 'आप मुझपर हँसेगें तो मुझे दुखः नहीं होगा तो क्या सुख होगा? मैं दीन हूँ, दुर्बल हूँ, आपका कुछ बिगाड़ नहीं सकता, इसलिए जो आपके जीमें आये कर लीजिए।'

संत तो क्षमा माँगने गये थे। उन्होंने अपनी हँसीका कारण बतलाया और क्षमा माँगी। उस साधुको भी अपनी भूलका पता लगा। उसने भी क्षमा माँगी, किन्तु संतमें कहीं अपमानका कर्तृव्य था? उसको जो भगवल्लीलाके दर्शनसे वञ्चित रहना पड़ा, यह उनके किस कर्मका फल हुआ?

कर्मका फल प्रायः कर्तृव्यके अहंकारसे होता है, यह नियम ठीक है। कर्मका फल कर्त्ताको ही होता है, यह नियम भी ठीक है। कर्मका फल भोगना ही पड़ता है, यह बात भी सच है, किन्तु ये सब सामान्य नियम हैं। सैकड़ों नियम-उपनियम

इन सामान्य नियमोंके बाधक हैं, क्योंकि कर्मका फल कहीं कर्त्ताकी प्रधानतासे होता है, कहीं देशकी प्रधानतासे, कहीं कालकी प्रधानतासे, कहीं क्रियाकी प्रधानतासे, कहीं वस्तु-उपकरणकी प्रधानतासे और कहीं तो फलभोक्ताकी प्रधानतासे ही कर्मफल कम-अधिक हो जाया करता है।

कर्मफलमें अनेक भागीदार होते हैं। माता-पिता, पुत्र, पति या पत्नी, देश का शासक, गुरु-ये सब कर्म फलमें भाग पाते हैं, भले उस कर्मके किये जानेका उन्हें पता तक न हो। कर्मका आदेश देनेवाले, उसका समर्थन या विरोध करनेवाले, उसकी प्रशंसा या निंदा करनेवाले भी उसमें भाग पाते हैं।

इन सब बातोंको ध्यानमें रखकर कहा गया है कि 'गहना कर्मणो गतिः।'-कर्मकी गति गहन-अत्यंत जटिल है। बड़े-बड़े कर्मशास्त्रके ज्ञाता भी इस सम्बन्धमें भ्रममें पड़ जाते हैं।

कर्मभोग कितना?

किस कर्मका क्या भोग प्राप्त होगा? कितने समय तक प्राप्त होगा? इसका वर्णन यद्यपि ज्योतिष शास्त्र और कर्म विपाक दोनोंमें है, यह सत्य है। किन्तु यही कोई बहुत सुनिश्चित बात नहीं है। सबको एक-सा ही फल नहीं मिलता। स्थितिके अनुसार तारतम्य रह सकता है।

एक ही कर्मका उदीयमान दुखद फल एक पाप-रत प्राणीको दीर्घकाल तक दुःख देता है और एक साधकको कभी-कभी तो उसके आराध्यकी कृपासे केवल स्वप्नमें ही उसका फल-भोग हो जाता है। जाग्रतमें उसका कोई प्रभाव ही नहीं होता। इसीलिए राष्ट्रकवि स्वर्गीय श्रीमैथिलीशरण गुप्त ने कहा था—

'अरे डराते हो क्यों मुझको, कह-कह विधिका अटल विधान।
'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् है समर्थ मेरा भगवान्॥'

भक्ति शास्त्रमें-भगवान्में जिनकी श्रद्धा है, उन भगवान्के मंगल-विधानमें सहज विश्वास रखनेवाले भक्तोंपर प्रारब्धका कोई प्रभाव नहीं होता। वे सर्वत्र सदा भगवान्का मंगल-स्पर्श प्राप्त करते हैं। भक्तका कोई पूर्वकृत कर्म ऐसा फल प्रकट कर नहीं सकता, जिसमें भक्तका अहित-अमंगल हो। कर्म-विधानका दुःख-पारतंत्र्य भक्तके लिए जाग्रत तो क्या, स्वप्नमें भी नहीं है।

श्री शुकदेवजी तो कहते हैं—

देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्मम्॥

(श्रीमद्भागवत-११/५/४१)

'राजन् परीक्षित्! शरण लेने योग्य श्रीमुकुन्दकी शरणमें जो अपने कर्तृत्वाभिमानको छोड़कर सर्वात्मना चला गया, वह अब देवता, ऋषि, प्राणी, श्रेष्ठ मनुष्य (राजादि) एवं पितरोंका भी न सेवक है और न ऋणी।'

अतः कर्मका भोग कब, कैसे मिलेगा और कैसे नहीं मिलेगा, इस चिंताको छोड़कर मंगलमय श्रीहरिके मंगल-विधानपर विश्वास रखकर उनकी शरण ग्रहण करना सबसे निरापद मार्ग है। जो ऐसा नहीं कर पाते, उनके लिए सकाम अनुष्ठान तथा कर्म-प्रायश्चित्तका विधान शास्त्र ने किया है।

कर्म-प्रायश्चित

मनुष्य संयम-नियमसे रहे और नियमित पथ्य, आहार-विहार रक्खे तो उसके रोगी होनेकी सम्भावना बहुत कम रहती है। रोग प्रायः आहार-विहार के असंयमसे अथवा कहीं किसी प्रकारकी सावधानीमें त्रुटि हो जानेसे होते हैं। जब रोग हो,जाता है, तब उसकी चिकित्सा करनी पड़ती है।

'रोगी स्वयं कुशल चिकित्सक भी हो तो भी अपनी चिकित्सा स्वयं न करे, यह नियम है।' उसे दूसरे अच्छे चिकित्सककी सम्मति लेनी चाहिए। जो चिकित्सा-शास्त्र जानते ही नहीं अथवा अपूर्ण जानते हैं, उनके द्वारा कोई चिकित्सा करायेगा तो परिणाम जो कुछ होगा, वह आप समझ सकते हैं।

पाप मानसिक रोग है। जैसे आहार एवं आचारसे च्युति होनेसे शारीरिक रोग होते हैं और वे दुख देते हैं, वैसे ही विचार-आचारमें च्युतिका होना ही 'पाप' कहलाता है। इससे मनमें रोग होते हैं और कालान्तरमें ये जब फलदोन्मुख होते हैं तो तन-मन दोनों के लिए दुखद होते हैं।

शारीरिक रोग तत्काल दुःख देने लगते हैं, किन्तु पाप तो एक रोग के बीजके समान है। जैसे किसीके शरीरमें कैंसरका बीज पहुँच जाय तो वह बहुत देरमें रोगके रूपमें प्रकट होता है और पीड़ादायक बनता है, उसी प्रकार पाप दुःखके बीज हैं, जो देरमें या जन्मान्तरमें अपना भयानक रूप प्रकट करते हैं।

बुद्धिमान व्यक्ति कैंसर तथा दूसरे किसी रोगका बीज शरीरमें पहुँचनेकी सम्भावना होनेपर जाँच कराता है और यदि बीज शरीरमें हुआ तो उसकी उसी समय चिकित्सा करता है। उस समय रोगकी चिकित्सा सरल होती है। इसी प्रकार पाप-अशुभ कर्म हो जायें। अपनेको लगे कि हुए तो इनकी तुरंत चिकित्सा कर दी जानी चाहिए। इस समय इनका प्रायश्चित्त उतना कठिन नहीं होता; किन्तु जन्मान्तरमें ये फलोन्मुख होंगे, तब इनके प्रभावको मिटानेके लिए जो अनुष्ठानादि करने होंगे वे पर्याप्त कठिन होंगे।

अपकर्मका प्रायश्चित्त स्वयं कर्त्ता निश्चित नहीं कर सकता, क्योंकि एक ही कर्म देश, काल, पात्र तथा कर्ताकी योग्यता, मनःस्थितिके अनुसार लघु या गुरु बनता है। पापसे लघु-गुरु, शुष्क आर्द्रके स्वतः भी भेद होते हैं। चींटीकी हत्या, गधेकी हत्या, मृग या वाराहकी हत्या, हाथीकी हत्या, मनुष्य या गौकी हत्या-ये सब प्राणिबध हैं, किन्तु इनमें हत्याका पाप समान नहीं है। क्षुद्र जीवोंके वधका पाप 'क्षुद्र' माना गया है बड़े प्राणियोंमें भी किन्हींके बधका पाप अल्प एवं किन्हींका बहुत माना गया है। हाथी उन्मत्त न हो तो युद्धके अतिरिक्त उसका वध महाहत्या-गो-बधके समान माना गया है। जो पाप तुरंतके हैं, वे आर्द्र हैं और जिनको पर्याप्त समय बीत गया है, वे शुष्क है। आर्द्र पापका प्रायश्चित्त शुष्ककी अपेक्षा अधिक होता है, क्योंकि शुष्क पापका अर्थ ही है कि वह मनोवृत्ति अब रही नहीं, अन्यथा उस पापकी पुनरावृत्ति हुई होती।

रोगोंकी चिकित्साके समान ही पाप-निदान होता है, पापका स्वरूप समय, स्थल, कर्ताकी शक्ति, साधन स्थिति एवं मनोभावादिका पूरा विचार करके तब उसके अनुसार प्रायश्चित्त निर्धारित होता है। अतः जैसे प्रत्येक मनुष्य चिकित्सक नहीं होता, उसके लिए पर्याप्त अध्ययन एवं अनुभव आवश्यक होता है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति प्रायश्चित्त निर्देशक नहीं हो सकता, भले वह उच्च कोटिका साधक अथवा महात्मा हो। इसके लिए प्रायश्चित्त-शास्त्रका गम्भीर अध्ययन तथा स्थितियोंको समझनेका अच्छा अनुभव आवश्यक है। ऐसे व्यक्तिसे ही प्रायश्चित्त-विधान प्राप्त किया जाना चाहिए।

जो लोभ, द्वेष, भय अथवा मोह के वश हो-इनसे प्रेरित हो, वह जैसे योग्य होनेपर भी उपर्युक्त चिकित्सक नहीं है, वैसे ही ऐसा व्यक्ति उपयुक्त प्रायश्चित्त निर्देशक भी नहीं हो सकता।

रोग अशुभ कर्मोंके फलसे ही आते हैं। अतः रोगकी चिकित्सा तथा ग्रह

शान्तिके अनुष्ठान प्रायश्चित्त ही हैं। सकाम अनुष्ठानोंमें तथा प्रायश्चित्तमें इतना ही अन्तर है कि प्रायश्चित्त प्रायः वर्तमान जीवनमें किये गये पापोंको मिटानेके लिए-निष्प्रभाव करनेके लिए किया जाता है और सकाम अनुष्ठान पूर्वकृत अज्ञात अशुभ कर्मोंसे प्राप्त रोग, शोक, दुःख या असफलताको दूर करनेके लिए होता है।

एक दिनके सामान्य उपवास, गंगास्नान, पञ्चगव्यपानसे लेकर चान्द्रायण, कृच्छचान्द्रायण एवं देहत्याग तक प्रायश्चित्त विधानके अन्तर्गत हैं।

आजके युगमें मनुष्य वैसे ही अल्पशक्ति, अल्पप्राण और श्रद्धाहीन हो गया है। वह कठिन प्रायश्चित्त कर सकेगा? ठीक-ठीक प्रायश्चित्त बतलाने वाले कठिनाईसे मिलते हैं। बतलाने वाला मिल जाय तो उसके बतलाये उपायपर श्रद्धा होनी कठिन और श्रद्धा भी हो तो क्या आज कष्ट उठा लेनेकी क्षमता सामान्य व्यक्तिमें है?

ऐसी दशामें आजका मनुष्य क्या करे? इस युगके लिए पाप-परिमार्जनका, सबके लिए सब पापोंके परिमार्जनका सुगम साधन शास्त्रने पहलेसे सुनिश्चित कर दिया है—

सर्वेषामप्यघवतामिदमेव सुनिष्कृतम्।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः॥

(श्रीमद्भागवत-६/२/१०)

'सब प्रकारके पापोंके कर्ता पापियोंके लिए केवल यही समुचित प्रायश्चित्त है कि वे भगवान् नारायणके नामका उच्चारण-जप संकीर्तन करें, जिससे भगवान्‌में उनकी बुद्धि लगे।'

भगवन्नाम-कीर्तन, भगवन्नाम-जप सब पापोंका सुनिश्चित एवं सर्वसम्मत प्रायश्चित्त है। यह सर्वत्र, सब समय, सबके लिए सुगम हैं। अतः नामका आश्रय ही लेने योग्य है।

●●

आत्मत्याग-आत्महत्या-स्वेच्छामृत्यु

'आत्मा' शब्दका अर्थ यहाँ स्थूल शरीर है, यह बात हमारी समझमें स्पष्ट रहनी चाहिए; क्योंकि आत्माका जो मुख्यार्थ चेतन है, उसका न त्याग किया जा सकता है और न उसकी हत्या की जा सकती है।

'गो-हत्या-निरोध' के प्रश्नको लेकर पिछले समय कुछ महाप्राण महात्माओं तथा अन्य लोगोंने अनशन किया था। कुछ विद्वन्मन्य व्यक्तियोंने उस त्यागके महत् प्रयासको 'आत्महत्याका प्रयत्न' कहनेकी धृष्टता की थी। यदि मनुष्यकी बुद्धिमें भ्रम हो जाय तो वह उल्टा समझने लगता है। तामसी बुद्धि पुण्यको पाप और पापको पुण्य बतलाती है। अतः आवश्यक है कि हम यहाँ आत्मत्याग, आत्महत्या और स्वेच्छामृत्युके भेदोंको ठीक-ठीक समझ लें।

आत्मत्याग

अनशन ही आत्मत्याग नहीं है। पिछले वर्षों वियतनाममें कुछ बौद्ध-भिक्षुओंने वहाँके शासकके विरोधमें अपनेको सार्वजनिक स्थानोंमें भस्म कर दिया! यह प्रयत्न आत्महत्या माना जाय, ऐसा कहना धृष्टता होगी ।

अनशन और आत्मदाह-ये दोनों आत्महत्या भी हो सकते हैं और आत्मत्याग भी। इनमें उद्देश्य को देखना पड़ेगा। वैयक्तिक रूपसे भी जब अन्यायके प्रतिकारका दूसरा कोई उपाय न रह जाय, तब निर्बलके लिए अनशनका मार्ग अपनाना आत्महत्या नहीं है।

जब कोई धर्म, जाति, समाज या राष्ट्रके लिए अपने जीवनको समर्पित कर देता है, तब उसके प्राणान्तकी रीति क्या रही, इसका कोई अधिक महत्व नहीं रह जाता। यतीन्द्रनाथ दास और उत्तम विजयपुंगीने अनशन करके प्राणत्याग किया था। उनका अनशन कारागारमें बन्दी देशभक्तोंके कष्टको कम करनेके लिए था। सैकड़ों क्रान्तिकारी फाँसीपर चढ़े अथवा गोलीसे मारे गये। श्रीगणेशशंकर विद्यार्थी अपने नगरमें होनेवाले साम्प्रदायिक दंगोंको शान्त करनेका प्रयत्न करते समय आततायी द्वारा मार दिये गये। ये सब समान रूपसे महान् एवं आत्मत्याग करनेवाले पुण्यात्मा होने चाहिए ।

जब व्यक्तिगत स्वार्थ और सर्वथा अनुचित दुराग्रह किसीके अनशन, आत्मदाह या मृत्युका कारण हो-तभी उसे 'आत्महत्या' कहा जा सकता है। जैसे कोई किसीके विरुद्ध अनशन करे-'मुझे इतने सहस्र रुपये दो या मैं तुम्हारे द्वारपर प्राण दे दूँगा।' अथवा कोई हठ करे-'अमुक वर्ग या परिवार मेरा धर्म, मेरी आराधना-पद्धति अपनावे, नहीं तो मैं आत्मदाह कर लूँगा!' वह सर्वथा आत्महत्याकी बात है। इसे शासनको दण्डनीय माननी चाहिए और सामान्य व्यक्तियोंको ऐसे दुराग्रहोंकी-ऐसी मृत्युकी भी उपेक्षा करनी चाहिए।

राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीजीने भी कई बार अनशन किया। उनके अनशनको कोई आत्महत्याका प्रयत्न कहे तो वह मूर्ख ही होगा। इसी प्रकार किसी भी महत् प्रयत्नके लिए होनेवाला अनशन अथवा अन्य किसी प्रकारसे मृत्युका वरण 'आत्मत्याग' है, पुण्य है।

जिन कार्योंमें मृत्यु होनेकी सम्भावना अधिक रहती है, उनमें किसी महान् उद्देश्यको लेकर जो सम्मिलित होते हैं-वे भी 'आत्मत्यागी' हैं उनकी मृत्यु न हो या हो; किन्तु उन्होंने अपनी ओरसे तो अपनेको उसके लिए प्रस्तुत कर ही दिया था। जैसे-जो लोग स्वाधीनताके क्रान्तिकारी आन्दोलनमें सम्मिलित हुए, जो लोग सत्याग्रह आन्दोलनमें गोली चलनेकी सम्भावना होनेपर भी जुलूसों और सभाओंमें डटे रहे, जो सैनिक देशकी रक्षाके लिए युद्धमें लड़ते रहे अथवा जिन पुण्य पुरुषोंने गोरक्षार्थ आमरण अनशनका व्रत लिया था, ये सब आत्मत्यागी हैं।

आत्मत्याग महान् पुण्य है; क्योंकि प्राणीको सबसे अधिक मोह शरीरसे-जीवनसे है। किसी महान् उद्देश्यके लिए अपने जीवनके त्यागका संकल्प महत्संकल्प है और उसका पुण्यफल भी महान् है।

आत्महत्या

जहाँ आत्मत्याग महापुण्य है, वहीं आत्महत्या महापाप है। किसी दुराग्रहके वश, किसी रोग-शोक-अर्थहानि-अपमान या इनके भयसे, किसी असफलता-अयश आदिसे घबरा कर, किसी लड़ाई-झगड़ेके कारण जब मनुष्य बलात् मरता है, तो उसे 'आत्महत्या' कहा जाता है।

विष खाकर, गोली मार कर, जलमें डूब कर, आगसे जलकर, फाँसी

लगाकर, ऊँचेसे कूदकर, रेल या किसी भारी यानके नीचे आकर, बिजलीसे या अन्य किसी भी प्रकारसे मृत्युको चुना जाय, मृत्युकी पद्धतिके कारण कोई अन्तर नहीं पड़ता। इससे आत्महत्याका पाप कम नहीं होता।

आत्मत्याग और आत्महत्यामें एक बड़ा अन्तर है। आत्मत्याग विचारपूर्वक होता है। उसमें आवेश-आवेग नहीं है। आत्महत्या आवेशमें होती है।

आत्महत्याकी इच्छा एक मनोरोग है और उसकी चिकित्सा की जा सकती है, यदि इसका अवसर मिले अथवा उसी व्यक्तिमें इतनी सद्‌बुद्धि आ जाय।

आत्महत्या महापाप क्यों है? इसे समझ लेना कठिन नहीं है। जिस कष्ट, अभाव, अपमानादि या इनके भयसे कोई आत्महत्या करनेका उद्यत होता है, वह उसे अपने प्रारब्ध कर्मके फलस्वरूप ही तो प्राप्त हुआ है। इस प्रकार आत्महत्या या उसका प्रयत्न उस प्रारब्ध कर्मका फल भोगनेसे भागनेका प्रयत्न है। किन्तु भागनेसे तो कर्म फलके भोगसे कोई बच नहीं सकता। अपने कर्मका फल तो प्राणीको भोगना ही पड़ेगा।

आप जानते हैं कि दण्ड प्राप्त बन्दी यदि कारागारसे भागे अथवा भागनेका प्रयत्न करे तो यह अपराध है और इस अपराधके लिए उसे दण्ड मिलता है। उसके कारागारकी अवधि बढ़ जाती है। उसे मिली सुविधाएँ छीन ली जाती हैं। उसके साथका व्यवहार पहलेसे कठोर हो जाता है ।

विश्वका जो कर्मनियन्ता है, वह सर्वज्ञ है और सर्वसमर्थ है। उसके राज्यमें कोई भाग कर कहाँ जायेगा? भागकर बचे रहना-थोड़ी देर भी बचे रहना वहाँ सम्भव नहीं है। कोई पूर्वकृत अशुभ है। उसे भोग लेनेके लिए एक शरीर कर्मनियन्ताने दिया। धैर्यपूर्वक प्रारब्ध भोग लिया जाय-हँसकर भोग लिया जाय तो क्लेश आधा हो जाय। क्लेशको तप मान लिया जाय तो प्रारब्ध तो भोग देकर नष्ट ही हो, तपका पुण्य भी हो। यह सब न हो सके और रो कर, खीझ कर भी भोग लिया जाय तो प्रारब्ध तो क्षय हो ही जायगा। अब कोई घबराकर या किसी आवेशमें आकर आत्महत्या करता है-प्रारब्ध भोगके लिए मिले देहको नष्ट कर देता है, तो इससे क्या प्रारब्ध नष्ट हो गया? कोई परिवर्तन हुआ प्रारब्धमें?

कर्मनियन्ताके समीप शरीरोंका अभाव नहीं है। जिसने एक शरीर नष्ट किया है और अनुचित ढंगसे, अनुचित समयपर नष्ट किया है तो उससे अधिक

हीन-निष्कृष्ट शरीर उसको मिलेगा। शरीर नष्ट करने-आत्महत्या महापापका फल नरकादि भोगने पड़ेंगे। यह अतिरिक्त दण्ड भोगकर फिर वही देह और वही परिस्थिति मिलेगी, जिससे घबरा कर आत्महत्या की गयी थी; क्योंकि जिन कर्मोंका फल वह स्थिति थी, वे तो नष्ट हुए नहीं हैं। वे तो अपना भोग देकर ही समाप्त होने वाले हैं।

इस प्रकार आत्महत्या का प्रयत्न केवल मूर्खता है। उससे व्यक्ति अपने क्लेश बढ़ा ही लेता है. किसी क्लेश-अपमानादिसे उसका छुटकारा इस रीतिसे हुआ नहीं करता।

अनेक बार जीवमें ऐसी स्थिति बन जाती है कि व्यक्तिको वह असह्य लगती है। वस्तुतः वह असह्य होती नहीं है। कई बार तो बात कुछ नहीं होती और मनुष्य भ्रमवश उसे बहुत बड़ी कल्पना कर लेता है। परीक्षामें अनुत्तीर्ण छात्रोंमें जो आत्महत्या करते हैं; प्रायः वे इस भ्रममें होते हैं कि उनका बहुत उपहास होगा अथवा उनके अभिभावक बहुत अप्रसन्न होंगे। बात इतनी बड़ी नहीं होती। अधिकांश छात्रोंको अनुभव है कि अनुत्तीर्ण होनेपर कहीं उपहास या अप्रसन्नता मिली भी तो वह असह्य नहीं होती। अतः यदि किसीको स्थिति असह्य लगती है तो उसे तत्काल कुछ न करके अपने निर्णयको क्रियाका रूप देनेमें विलम्ब करना चाहिए। किसी-न-किसीको अपना संकल्प बतला देना चाहिए। किसी होम्योपैथिक सुचिकित्सकके यहाँ जाकर उपर्युक्त दवाकी गोलियाँ खा लेना चाहिए।

इच्छामृत्यु

इच्छामृत्यु भी तीन प्रकारकी होती है-१. मृत्युका समय आ जानेपर अपने इच्छानुसार ढंगसे देह-त्याग करना। २. मृत्युकाल आनेपर भी उसे अपने इच्छानुसार कुछ समयके लिए टाल देना और अभीष्ट समयमें देह-त्याग करना। ३. मृत्युकाल भले न आया हो; किन्तु शास्त्राज्ञासे देह-त्याग प्राप्त होनेपर उस निर्दिष्ट-विधिसे देहका त्याग कर देना।

१. योगी प्राणान्तका समय आनेपर कैसे देह-त्याग करे, इसका वर्णन कई ग्रन्थोंमें है। उस समय समान आसनपर पूर्वाग्र कुश बिछा कर उसपर मृग (या व्याघ्र) चर्म बिछावे। उसके ऊपर ऊनी आसन बिछाकर स्थिर आसनसे बैठें।

शरीर सीधा कर लें। प्राणकी गतिको नियन्त्रित करके श्वासोच्छ्वास बन्द कर दे। पैरकी एड़ियोंसे मल एवं मूत्रद्वार दबे–अवरुद्ध हो।

इतना हो जाने पर नाभिचक्रसे उदानवायुको धीरे-धीरे हृदयमें ले आकर कुछ देर (कुछ पल) स्थिर रखे। फिर प्राणवायुके साथ उसे कण्ठमें होते हुए भ्रूमध्यमें ले आये। यहाँ हृदयकी अपेक्षा कुछ अधिक देर वायुको रोके रहे। यहाँसे ऊपर मस्तकमें (ब्रह्म-रन्ध्रमें) वायुको ले जाय और आधे मुहूर्त वहाँ रोककर, प्रणवका मानसिक उच्चारण करता हुआ, अपने इष्टदेवका स्मरण करता हुआ अथवा लयपद्धतिसे तत्वोंका लयचिन्तन करके एक परमात्मामें स्थित हो, वायुको मूर्धाद्धारका स्फोट करके निकल जाने दे।

यह सर्वश्रेष्ठ इच्छामृत्यु है। इतना कर पानेमें जो समर्थ नहीं है वे मृत्युकाल उपस्थित जान कर अपनी भावनाके अनुसार जप करते, पाठ करते या सुनते हुए देह-त्याग करते हैं।

२. मृत्युकाल उपस्थित हो जानेपर भी उसे थोड़े समयके लिए टाल देनेमें कुछ महापुरुष समर्थ होते हैं। महाभारतके युद्धमें भीष्म पितामह रथसे गिर पड़े। उनके अंगोंमें इतने बाण लगे थे कि शरीर भूमिपर न गिर कर उन बाणोंपर ही रुका रहा। इस शरशय्यापर पड़े-पड़े भी उन्होंने दक्षिणायन सूर्य रहते प्राणत्याग करना ठीक नहीं समझा और सूर्यके उत्तरायण होनेकी प्रतीक्षा करते रहे।

महाभारतका युद्ध मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशीको प्रारम्भ हुआ। इसीतिथिको गीता-जयन्ती मनायी जाती है। युद्धके दसवें दिन अर्थात् पौष कृष्ण पञ्चमीको पितामह भीष्म शरशय्यापर गिरे। माघ शुक्ल अष्टमी (भीष्माष्टमी) को उन्होंने सूर्यके उत्तरायण होनेपर देह त्याग किया, इस प्रकार उन्होंने डेढ़ महीने मृत्युकाल टाल दिया।

३. शास्त्रोंमें अमुक स्थितिमें देह त्याग देनेका निर्देश है। जैसे वानप्रस्थाश्रम स्वीकार करते समय अपनी शारीरिक क्षमता देखकर एक, दो, तीन, पाँच, सात, नौ या बारह वर्ष इस आश्रममें रहनेका संकल्प ग्रहण किया जाय-ऐसा निर्देश है। यदि अब संकल्पका समय तो पूरा हुआ नहीं और रोग या दुर्बलताके कारण वानप्रस्थाश्रमके कठोर नियम-तपादिका पालन सम्भव नहीं रहा तो क्या किया जाय? असमर्थ होनेपर नियम-पालन छोड़ने या ढीला करनेकी छुट्टी दूसरे आश्रमोंमें तो है; किन्तु वानप्रस्थाश्रममें नहीं है। वानप्रस्थके लिए विधि है कि

नियम-पालन सम्भव न हो तो अनशन करके अथवा अग्नि प्रज्वलित करके उसमें प्रवेश करके देह-त्याग कर दे।

कई प्रकारके पापोंका मरणान्त प्रायश्चित्त शास्त्रोंने बतलाया है। कौनसे पापके प्रायश्चित्तमें किस प्रकार देह-त्याग किया जाय, यह वर्णन भी है। जैसे आचार्य श्रीकुमारिल भट्टने त्रिवेणी तटपर तुषा (भूसी) की अग्निमें बैठकर (धीरे-धीरे जलते हुए) देह-त्याग किया था।

कुछ विशेष स्थलोंपर परिस्थिति विशेषमें विशेष रीतिसे देह-त्यागकी अनुमति थी। 'काशी करबत' इनमें बहुत प्रसिद्ध है। अब ये पद्धतियाँ लुप्त हो चुकी हैं।

इन रीतियोंसे देह-त्यागको आत्महत्या नहीं माना गया है। यह आत्म-दान भी नहीं है। शास्त्र इसे 'इच्छामृत्यु' कहता है। इसमें आत्म-हत्याका पाप नहीं होता।

●●

परेच्छाभोग एवं अकालमृत्यु

यह विश्व परस्पराश्रित एवं परस्पर समन्वित ही चलता है। यहाँ कोई एक व्यक्तित्व अपने-आपमें स्वतन्त्र नहीं है। अपने शरीरमें ही हम देखते हैं तो इसका प्रत्येक कण अपनी क्रियाके लिए पूरे शरीरपर आश्रित है और अपनी क्रियासे पूरे शरीरको प्रभावित करता है। जब कोई कण शरीरसे पृथक् कुछ करने लगता है तो वह रोगका कारण बन जाता है! उसकी चिकित्सा करनी पड़ती है। इसी प्रकार हम सब लोग विराट् भगवान्के शरीरमें स्थित हैं। हम सब अपनी क्रिया एवं अपने भोगके लिए भी विराट्-समष्टिपर निर्भर हैं।

परेच्छाभोग-दुःख, अयश, अभाव, रोग, असुविधा, अवनति कोई नहीं चाहता; किन्तु सबके जीवनमें ये आते हैं। रोग, शोक, बुढ़ापा और मृत्यु, जीवनमें क्यों आते हैं? इसीलिए आते हैं, क्योंकि प्रारब्धका भोग वैसा है। इन्हें न चाहनेपर, टालनेका भरपूर प्रयत्न करके भी टाला नहीं जा पाता है।

आपने कभी सोचा है-जो कर्मनियन्ता आपके न चाहनेपर भी रोग, शोक, बुढ़ापा, मृत्यु आदि ठीक समयपर भेजनेमें नहीं चूकता, वही कर्मनियन्ता

प्रारब्धके सुख, सुयश, सम्पत्ति आदि समयपर आपके समीप भेजनेमें चूक जायेगा?

कठिनाई यही है कि आज हम आस्थाहीन हो गये हैं। केवल मुखसे परमात्मा या प्रारब्धको स्वीकार करते हैं। बहुतसे लोग तो मुखसे भी इनको स्वीकार नहीं करते। जो स्वीकार करते हैं, अपनेको आस्तिक कहते हैं, उनकी भी आस्था इनपर नहीं है। यह बहुत कटु बात है; किन्तु सत्य यही है कि आज समाजकी आस्था पापपर है, ईश्वर और प्रारब्धपर नहीं है।

'झूठके बिना व्यापार चलता नहीं।'-जब आप यह कहते हैं और जब आप मानते हैं-'आजके समाजमें तो कुछ झूठ, छल आदि अपनाना ही पड़ता है', तब आप किसपर आस्था कर रहे होते हैं? निश्चय ही पापपर !

छल, कपट, चोरबाजारी, घूस-खोरी, धोखाधड़ी, मिलावट आदि सब इसलिए चल रही है कि मनुष्यकी पापपर आस्था है; जबकि सत्य यह है कि आपको जो भोग-जो पदार्थ या पद मिलता है, वह न आपकी चतुराई और जोड़-तोड़का फल है और न आपके श्रम एवं योग्यताका परिणाम है। वह है आपके प्रारब्धका अनिवार्य फल। कर्मनियन्ताने उसे उसी प्रकार आपके लिए पहलेसे सजा रक्खा था, जैसे वह रोग असफलतादि सजा रखता है।

आप इतिहास देख लें और अपने आस-पास देख लें कि कितने योग्य, परिश्रमी और जोड़-तोड़, धोखा-धड़ीमें अत्यन्त पटु लोग असफल हुए-हो रहे हैं और कितने कम योग्य, कम पहुँचवाले लोग भी अच्छी स्थितिमें हैं। पापपर आस्था करके जो किया जाता है, उससे केवल पाप बढ़ता है और पापका फल सुख नहीं है। पापका फल दुःख है। वह आज या कल अवश्य मिलने वाला है।

सामान्य व्यवहारमें जो सुख या दुःख हम अपनी इच्छासे स्वीकार करते हैं—उसे 'स्वेच्छाभोगं' कहते हैं और जिसे परेच्छासे स्वीकार करते हैं, उसे 'परेच्छाभोग' कहा जाता है। प्रारब्धकर्मका भोग तीन प्रकारसे माना जाता है—१. स्वेच्छा, २. परेच्छा और ३. दैवेच्छासे।

स्वेच्छा भोग-आप व्रत-उपवास करते हैं अथवा विविध पक्वान्न बनाकर खाते हैं। यह उपवास अथवा प्रिय भोजन प्राप्त तो हुआ आपको प्रारब्धसे; किन्तु इसमें आपकी अपनी अनुकूल इच्छा सम्मिलित हो गयी, इसलिए आप इसे स्वेच्छासे हुआ भोग मानते हैं। स्वेच्छा भोग, क्योंकि अपनी इच्छासे आया,

अतः सुखद होता है। इसमें कष्ट और श्रम भी हो तो भी मनुष्यको प्रसन्नता होती है। व्रत करना हो या श्रमदान यदि स्वेच्छासे है तो उत्फुल्ल करता है।

परेच्छा भोग-आप चाहते नहीं हैं; किन्तु कुछ लोग चन्दा लेने आते हैं तो संकोचवश अथवा उनके दबावसे दान करना पड़ता है। इसी प्रकार श्रमदानमें लगना पड़ता है। कोई आपको पीट देता है या पुलिस पकड़ लेती है; आपकी इच्छा न होनेपर भी कोई आपको उत्तम भोजन करा देता है या पुष्पमाला पहिना देता है; कोई आपको सम्मान करता है-ये प्रतिकूल या अनुकूल भोग भी प्रारब्धसे ही प्राप्त हुए; किन्तु इनमें जो आपके मनके प्रतिकूल थे, उनसे आपको दुःख होगा और जो अनुकूल होंगे, उनसे आपको सुख होगा।

परेच्छा भोग भी दो प्रकारके हैं—१. संसारके लोगोंके माध्यमसे प्राप्त होनेवाले भोग और २. स्थूल जगत्के लिए जो अदृश्य हैं, उन देवता पितर, सिद्ध, भूतप्रेतादिके माध्यमसे प्राप्त होनेवाले भोग।

इन दोनोंके ही दो भेद किए जा सकते हैं और स्वेच्छा भोगके भी ये दो भेद होते हैं-१. प्रारब्धका फल ही स्वेच्छासे अथवा दूसरोंके माध्यमसे प्राप्त होता है। २. स्वेच्छासे सकाम अनुष्ठान द्वारा और परेच्छासे उनकी विशेष शक्तिके कारण ऐसा सुख या दुःख भी प्राप्त हो सकता है, जो प्रारब्धमें सामान्यतः नहीं था।

दैवेच्छा भोग- रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि ही नहीं; जीवनके सब सुख-दुःख, जो हमने अपनी इच्छासे स्वीकार नहीं किया और जो दूसरोंके माध्यमसे नहीं आये, दैवेच्छासे आये। कर्मनियन्ताकी प्रेरणासे यह प्रारब्ध भोग प्राप्त हुआ।

सामान्यतः दैवेच्छासे केवल कर्मका भोग ही प्राप्त होता है। कर्मका नियन्ता अपनी ओरसे कोई परिवर्तन प्रारब्धमें नहीं करता। लेकिन इस नियममें भी अपवाद है। जो भगवान्का आश्रय लेने वाले लोग हैं, उनके सर्वसमर्थ परमं दयामय प्रभु भले सर्वसामान्यके लिए समदर्शी हों; किन्तु अपने शरणागतके लिए तो वे 'भक्त पक्षपाती' हैं। अपने आश्रितके ऐसे प्रारब्ध भोगको, जो उसका अमंगल कर सकता हो (उनकी दृष्टिमें अमंगलकारी हो) निष्क्रिय कर देते हैं। भगवान्ने श्रीमद्भागवतमें स्वयं कहा है—

यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।'

(भागवत १०/८८/८)

'जिसपर मैं कृपा करता हूँ, (अनर्थोंमें ले जाने वाला) उसका धन मैं हरण कर लेता हूँ।'

अब प्रारब्धमें यदि उसके धन हो ही नहीं तो उसके हरणकी बात क्यों कही जाय? केवल धन ही आप हरण नहीं करते, दुःख-दुर्भाग्य और पापादि समस्त अमंगलोंका हरण कर लेते हैं।

सबको स्वेच्छा-भोग बनाइये

प्रारब्ध केवल परिणाम प्रकट करता है। आप कर्म करनेमें स्वतन्त्र हैं; अतः मानसिक कर्म करनेमें- भावना करनेमें आप स्वतन्त्र हैं। अतः आप चाहें और थोड़ा अभ्यास कर लें तो प्रारब्धके सब भोगोंको आप स्वेच्छाभोग बना ले सकते हैं और ऐसा करनेपर आपके दुःख तो मिट ही जायेंगे, हर कष्ट, हर अभाव आपको पुण्य देने वाला बन जायेगा।

आप परिस्थिति परिवर्तित कर देनेमें स्वतन्त्र नहीं हैं, यह बात प्रतिकूल परिस्थितिके लिए ठीक है। अनुकूल परिस्थिति-सुखके त्यागके लिए आप स्वतन्त्र हैं; क्योंकि नियम यह है कि पुण्यका भोग-पुरस्कारके त्यागमें प्राणी स्वतन्त्र होता है। पापका भोग- अपराधके दण्डको तो स्वीकार ही करना पड़ता है।

अब आप देखिये कि कर्म करनेमें भावना बनानेमें तो आप स्वतन्त्र हैं ही, प्रारब्धमें भी जो सुखद है, अनुकूल है, उसे त्याग देनेमें-उसका दान कर देनेमें आप स्वतन्त्र हैं। केवल प्रतिकूल प्रारब्ध भी जब स्वेच्छाभोगके रूपमें आता है, तो उससे आपको कोई कष्ट नहीं होता। उल्टे उससे आपको प्रसन्नता होती है। आप व्रत, तप, दान, यज्ञ आदिमें भूखे रहते हैं, श्रम करते हैं, धनका त्याग करते हैं और इसमें प्रसन्नता तथा गौरवका अनुभव करते हैं। यह सब करके आपको पुण्य होता है।

परेच्छा या दैवेच्छासे जो प्रतिकूलता आती है, उसमें आप तप या त्यागकी भावना बना लें तो वह भी स्वेच्छा प्रारब्धके समान आपको पुण्य देगा तथा उसमें दुःख नहीं रहेगा। वह भी आपको प्रसन्न करेगा। एक साधुको ज्वर आया था। मैं उनके समीप गया तो वे बोले-'आज तप कर रहा हूँ । लोग पञ्चाग्नि तापते हैं, मैं जठराग्नि ताप रहा हूँ।' अब ज्वर जितना तीव्र हो, तपकी बुद्धि उसमें उतनी

ही अधिक। ज्वरकी पीड़ा तो ज्योंकी त्यों बनी रही; किन्तु उसमें दुःख नहीं रहा। उसमें गौरवभाव आ गया और ज्वरमें तपका पुण्य होने लगा।

मेरे एक परिचित व्यापारी हैं। बहुत ईमानदार, सच्चे तो हैं ही, बहुत प्रसन्नमुख, परिश्रमी और अध्ययनशील व्यक्ति हैं। व्यापारमें कभी हानि होती है तो प्रसन्नमुख कहते हैं-'सब मुझे ही क्यों मिलना चाहिए? समाजने अपना भाग दान ले लिया।' अब घाटेमें उन्हें दानबुद्धि हो गयी तो दुःख तो विदा हो ही गया, दान करनेका पुण्य भी होता ही है।

एक सज्जन गिर गये। कड़ी चोट लगी। हड्डी टूट गयी। पैरपर पलस्तर चढ़ा था। हँसते हुए कह रहे थे-'चलो, प्रायश्चित्त हो गया। इन पैरोंसे जाने कितने ठौर-कुठौर घूमा हूँ, अब इन्हें दण्ड तो मिलना ही चाहिए था।'

'रपट पड़ेकी हरगंगा' व्यर्थ नहीं है। सचमुच उनका प्रायश्चित्त हो गया। आप भी इस प्रकारका अभ्यास कर लें तो प्रारब्धसे आये प्रतिकूल भोग आपको दुखी नहीं करेंगे'—उनमें व्यथा नहीं होगी। साथ ही वे पुण्य देकर अथवा पापका प्रायश्चित पूरा कराकर जायेंगे। आप उनके द्वारा यह दुहरा लाभ उठाना सीख लें।

अकालमृत्यु

केवल प्रारब्धसे आये दुःखोंके सम्बन्धमें ही भावना बदली जा सकती हों; ऐसी बात नहीं है। भावना तो मृत्युके सम्बन्धमें भी बदली जा सकती है। मृत्युके सम्बन्धमें भाव बदल लिया जाय तो वह सब झंझटोंसे-जन्म-मरणसे ही मुक्त कर देने वाली हो जाती है। मृत्युके सम्बन्धमें जो भाव कर लेते हैं—'अब निर्वाण हो रहा है' उन्हें मृत्यु सचमुच निर्वाण प्रदान करने वाली बन जाती है।

यह मृत्यु भी दो प्रकारकी है—१. कालमृत्यु और २. अकाल मृत्यु। आप भगवान्‌के चरणामृतका महात्म्य सुनते हैं—'अकालमृत्युहरणम्'। यदि अकालमृत्यु कुछ हो ही नहीं तो उसे हरण करनेका अर्थ क्या?

कालमृत्यु-प्रारब्धके अनुसार जिस जीवको; जिस शरीरमें जितने समय तक रहना है।, उतने समय तक वह उस शरीरमें रहकर जब मरता है तो उसे 'कालमृत्यु' कहते हैं।

इस कालमृत्युके निमित्त कुछ भी हो सकते हैं। रोग, चोट, युद्ध, सर्पादि प्राणी या और कोई भी निमित्त कालमृत्युका हो सकता है।

सामान्यरूपसे कालमृत्युको टाला नहीं जा सकता। औषध तन्त्र-मन्त्रादिसे कालमृत्यु नहीं टलती। लेकिन प्रबल अनुष्ठान, देवताका अनुग्रह या किसी समर्थका आयुदान नवीन प्रारब्ध-निर्माण करके कालमृत्युको भी टाल दे सकता है।

अकालमृत्यु-प्रारब्ध समाप्त हुए बिना ही जब कोई प्राणी शरीर त्याग देता है तो उसे 'अकालमृत्यु' कहा जाता है।

अकालमृत्यु जब स्वयं वरण की जाती है तो वह आत्मदान या आत्महत्या होती है। आत्महत्याके सैकड़ों मार्ग हैं, और आत्मदानके भी नाना प्रकार हो सकते हैं। व्यक्तिका प्रबल संकल्प, दूसरोंका प्रयत्न और औषधि भी इसे टाल दे सकती है।

जब कोई दूसरा देवता, सिद्ध, तपस्वी, भूत-प्रेतादि अपने बलसे या शापसे किसीको मार देते हैं तो यह 'परतः अकालमृत्यु' होती है। बिजली गिरनेसे, विषसे, सर्पादिके काटनेसे भी अकालमृत्यु हो सकती है।

उपासना, मन्त्र-तन्त्र, औषध आदिसे अकालमृत्युका निवारण किया जा सकता है- किया जाता है। यदि इनका प्रयोग ठीक हो रहा है तो प्रायः सरलतासे अकालमृत्युका निवारण हो जाता है।

भगवान्‌की शरण लेनेवालेकी रक्षा वे प्रभु स्वयं करते हैं। अतः भक्तकी अकालमृत्यु न होती है और न होनी सम्भव है। कोई प्रेतादि तो उसका भला क्या अहित करेगा, कोई देवता या सिद्ध भी उसका अहित करने जाय तो स्वयं अपना अहित कर लेगा, अम्बरीषके लिए कृत्या उत्पन्न करके भगवान् शिवके साक्षात् अवतार परम तपस्वी महर्षि दुर्वासाको ब्रह्मलोक, कैलास तो क्या; स्वयं बैकुण्ठनाथके यहाँ भी शरण नहीं मिल सकी थी। उन्हें अन्ततः अम्बरीषके ही चरणोंपर गिरना पड़ा। अतः त्रिभुवनमें कोई निर्भय है तो वह श्रीहरिका चरणाश्रित ही है।

●●

मरणोत्तर गतियाँ

सामान्य मनुष्यकी चतुर्विध गतियाँ हैं

(क) यदि वह पुण्यात्मा है, उनके शुभ संस्कार बहुत अधिक हैं-इतना अधिक कि उनका सुख-भोग किसी पार्थिव शरीरमें मिल पाना सम्भव नहीं है तो उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। उसे यमराजके दूत दिव्य सुन्दर देवदूतोंके रूपमें आकर बड़े सम्मान एवं सुविधाके साथ ले जाते हैं। यमराज उसे बहुत सौम्य तथा भव्य रूपमें मिलते हैं। (वे उसे स्वर्ग भेज देते हैं।) स्वर्गके अनेक लोक एवं उपलोक हैं। वहाँ वह देवताओंके द्वारा सत्कृत होकर तब तक निवास करता है, जब तक उसके पुण्यकर्मोंका भोग इतना कम न हो जाय कि उसे पृथ्वीपर जन्म दिया जा सके।

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'

(गीता- ९/२१)

पुण्य क्षीण होनेपर तो उसे पृथ्वीपर जन्म लेना ही है।

(ख) यदि मरने वाला मनुष्य पापी है, उसके पाप संस्कार बहुत अधिक हैं-इतने अधिक कि उनका दुःख भोग किसी पार्थिव शरीरमें मिल पाना-सह पाना नहीं है तो उसे नरक प्राप्त होता है। उसे यमराज के दूत बड़े भयंकर रूपमें मिलते हैं। उसे वे मारते-धमकाते, पीड़ा देते ले जाते हैं। और नरक भेज देते हैं। नरकोंके भी अनेक भेद हैं। वहाँ भी प्राणी नाना प्रकारकी यातनाएँ भोगता है। उसके पाप जब इतने क्षीण हो जाते हैं कि वह पृथ्वीपर किसी देहमें उन्हें भोग सके तो उसे नरकसे छुटकारा मिलता है।

(ग) प्राणीको स्वर्गसे पृथ्वीपर आना हो अथवा नरकसे, कर्म-नियन्ता प्रायः ऐसी व्यवस्था कर लेता है कि जब प्राणी स्वर्ग या नरकसे निकले तो उसे पृथ्वीपर जन्म लेनेके उपयुक्त परिस्थिति प्राप्त हो जाय; किन्तु ऐसे भी मनुष्य होते हैं कि उनके शुभ अथवा अशुभ कर्म ऐसे हैं कि उनको न स्वर्ग जाना है, न नरक। उनका जन्म पृथ्वीपर ही होता है। उनका अन्तिम संस्कार भी ऐसा हो सकता है कि उनको पृथ्वीपर जन्म देना अनिवार्य हो। जैसे साधन-भजन करने, विद्या

पढ़ने अथवा अमुक देश-जाति या धर्मकी सेवा करनेका संस्कार लेकर कोई मरे तो उसको पृथ्वीपर ही जन्म मिलता है। ऐसी अवस्थामें अनुकूल स्थिति हुई-माता-पिता आदि जिन्हें उसका बनना है, ठीक अवस्थामें हुए तो पृथ्वीपर उसका जन्म सीधे हो जायगा। यदि ऐसी स्थिति न हुई तो अनुकूल स्थिति बनने तक उसे पितृलोकमें रहकर प्रतीक्षा करनी पड़ेगी, तब तक जब तक जन्म लेनेकी स्थिति पृथ्वीपर न बन जाय।

(घ) कुछ ऐसे लोग भी मरते हैं, जिनके मनमें किन्हींसे घोर द्वेष अथवा प्रबल मोह बना होता है और इस मोह अथवा द्वेषको स्मरण करते हुए ही वे मरते हैं। यदि सम्भव हुआ तो कर्म-नियन्ता उन्हें जन्म दे देता है। ऐसे जन्म पाने वाले जिनमें मोह या द्वेष है, उनके घरमें उनके स्वजन बनकर, उनके यहाँ पशु आदि बनकर जन्म लेते हैं।

मुझे कई कुत्तोंके विषयमें सुननेको मिला है कि वे एकादशी अथवा प्रदोषका व्रत करते हैं। गाय, बैल, घोड़े आदि घरेलू पशुओंमें भी विशेष नियम-पालन, विशेष व्यक्तिके प्रति आसक्ति सुननेको मिली है। धनका घोर लोभी सर्प होता है-यह आपने सुना ही होगा। यह भी अनेक बार सुननेमें आता है कि अमुक मृतस्वजनने अमुककी सन्तानके रूप में जन्म लिया।

अनेक बार इन प्रबल राग या द्वेष रखनेवालोंके संस्कार ऐसे नहीं होते कि उन्हें पृथ्वीपर किस शरीरमें उन लोगोंके आस-पास जन्म दिया जा सके, जिनके प्रति उनकी आसक्ति अथवा द्वेष है। ऐसी अवस्थामें वह मनुष्य मरकर आतिवाहिक देहमें ही रह जाता है। आप कह सकते हैं कि वह भूत या प्रेत हो जाता है। इस रूपमें वह (अपने मोह या द्वेषके अनुरूप व्यवहार करता है।) कब तक रहेगा- यह उसके कर्मोंपर निर्भर है। जैसे मनुष्यकी आयु कर्मोंपर निर्भर है। लेकिन प्रेतकी अधिकतम आयु एक सहस्र वर्ष है।

योगी, ज्ञानी, भक्त महापुरुषोंकी गतियाँ

(साधकोंकी गतियोंके कोई भेद नहीं हैं। वे तो बार-बार मनुष्य जन्म लेकर अपना साधन आगे बढ़ाते जाते हैं।)

(क) योगीकी दो गति गीतामें भी कही गयी हैं-शुक्ल एवं कृष्णगति अर्थात्

देवयानसे जाने वाला योगी दिन, शुक्लपक्ष, उत्तरायणके अधिदेवताओं द्वारा क्रमशः मार्गदर्शन प्राप्त करता हुआ सूर्य-मण्डलको पार करके मुक्त हो जाता है।

कृष्ण गति अर्थात् पितृयानसे जाने वाला योगी रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनके अधिदेवताओं द्वारा ले जाया जाता है। वह ब्रह्मलोकमें पुण्यात्माओंके साथ कल्पपर्यन्त निवास करता है; किन्तु उसे फिर नवीन सृष्टिमें जन्म लेना पड़ता है।

ज्ञानमें भी क्रम-मुक्ति और सद्योमुक्ति ये दो भेद माने गये हैं। क्रम-मुक्ति प्राप्त करने वाला ज्ञानी भी देवयान मार्गसे ब्रह्मलोक जाता है। देवयान मार्गसे योगी जाय, ज्ञानी जाय अथवा निष्काम कर्म करने वाला जाय, सब कल्प पर्यन्त तो ब्रह्मलोकमें ही रहते हैं। कल्पान्तमें ब्रह्माजीके द्वारा उपदेश प्राप्त करके वे मुक्त हो जाते हैं। लेकिन जो योगी पितृयान मार्गसे ब्रह्मलोक गये हैं अथवा जिन्होंने धर्म (यज्ञ, दान, तप आदि) से ब्रह्मलोक पाया है, वे मुक्त नहीं होते। उन्हें फिर जन्म लेना पड़ता है।

(ख) श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीने उपदेशके प्रारम्भमें ही (द्वितीय स्कन्धमें) एक क्रम मुक्तिका मार्ग बतलाया है। यदि योगीके मनमें दिव्य-लोकोंके सुख भोगकी इच्छा हो तो वह मरण-समय आनेपर स्वेच्छासे देह-त्याग करते समय मर्न इन्द्रियोंको अर्थात् सूक्ष्म शरीरको साथ लेकर स्थूल शरीरसे निकल जाय।

यह योगी सिद्ध देह होता है। यह इच्छानुसार सब लोकोंमें घूम सकता है। लेकिन इसका निवास महःलोकमें होता है। प्रलयकालमें इसे जनलोकमें चला जाना पड़ता है। सृष्टिकाल आनेपर इसे निर्भय होकर पृथ्वीसे एक हो जाना चाहिए-पृथ्वी बन जाना चाहिए। ऐसा करनेपर जब महाप्रलयका समय आवेगा तब यह पृथ्वीसे जल, जलसे वायु आदि क्रमसे लीन होता परम तत्वमें एकत्व प्राप्त कर लेगा। इससे पूर्व वह एक-एक कल्पमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महान तथा प्रकृतिके अधिदेवतामें एकत्व प्राप्त करता प्रगति करता रहता है।

(ग) भक्तकी गति तो उसके भगवान् हैं। उसके आराध्यके पार्षद अथवा स्वयं उसके आराध्य उसे अपने दिव्यलोकमें ले जाते हैं। भक्तके लिए दूसरा कोई

विकल्प नहीं है। उस दिव्यलोकमें वह सालोक्य (भगवल्लोकमें वृक्ष-लता, पशु-पक्षी) की स्थिति प्राप्त करता है।

सर्ष्टि- भगवान्‌के समान ऐश्वर्य शक्ति प्राप्त करके किसी कारण पुरुषके पदपर बना रहे।

सारूप- आराध्यके समान रूपमें रहकर उनका पार्षद होकर सेवामें रहे, सामीप्य-आराध्यके अत्यन्त निकट रहने वाले निज जनोंके रूपमें अथवा उनके श्रीअंगपर आभूषण, माला आदि बनकर रहे या सायुज्य (एकात्म) आराध्यके श्रीविग्रहमें एकत्व प्राप्त करले, यह उसकी रुचि तथा आराध्यकी इच्छापर निर्भर है।

(घ) योग और ज्ञानकी जो पूर्णावस्था है, उसमें क्रम मुक्ति नहीं है। उसमें कहीं आना-जाना नहीं है। भगवत्तत्त्व तो सर्वत्र समान रूपसे परिपूर्ण है। उसे प्राप्त करनेके लिए कहीं जाना ही पड़े, ऐसी तो कोई बात नहीं है। अत: ऐसे सद्योमुक्त पुरुषोंके लिए शास्त्रने कहा—

'न तस्य प्राणा चोत्क्रामन्ति। तत्रैव प्रविलीयन्ते।'

उसके प्राण देहमें-से निकलकर कहीं जाते नहीं हैं। वे वहीं निर्गुण, निराकार, सर्वव्यापक ब्रह्मतत्वमें लीन हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त कुछ गतियाँ हैं, जिनका अन्तर्भाव इनमें-से ही किसी न-किसीमें उनका हो जाता है। जैसे धर्मयुद्धमें मारे गये क्षत्रियको मोक्ष होता है-यह वर्णन शास्त्रमें आता है। वहाँसे उसे 'सूर्यमण्डलभेदिनी' कहा गया है। इसका अर्थ है कि वह देवयान मार्गसे जाता है। यही बात पतिव्रता नारीके भी सम्बन्धमें कही जा सकती है।

जो साधक या महापुरुष अपने जीवनमें जानबूझकर एकबार भी सिद्धिका अतिमानवीय शक्तिका उपयोग कर लेते हैं, उनको इस जीवनमें सद्योमुक्ति नहीं प्राप्त होती। उन्हें सिद्धलोकमें जाना पड़ता है और प्राय: उन्हें अगली सृष्टिमें भी कारक पुरुषका पद स्वीकार करना पड़ता है। यह बात मुझे एक अच्छे सिद्ध पुरुषने (उनका शरीर अब छूटे बहुत दिन हो गये) कुछ वर्ष हुए बतलाई थी। ऐसे लोगोंको भले जीवनमुक्तकी स्थिति प्राप्त हो जाय, देह त्यागके पीछे उन्हें सिद्ध देह स्वीकार करके सिद्धलोकमें रहना ही पड़ता है। यदि कारक पुरुष उन्हें न बनना पड़ा तो प्रलयके समय वे मुक्त होते हैं।

यहीं कारक पुरुषोंकी बात भी कह दी जाय। ये भगवान्‌के द्वारा कार्य विशेषके लिए नियुक्त, शक्ति विशेषसे सम्पन्न लोग होते हैं। ये पृथ्वीपर मनुष्य अथवा अन्य शरीरोंमें भी रह सकते हैं और दिव्य देहसे दूसरे लोकोंमें भी। दूसरे लोकमें रहते हों तो भी पृथ्वीपर आ सकते हैं और किसीको कृपा करके दर्शन भी दे सकते हैं। ये कर्म-परतन्त्र जीव नहीं होते, अत: इनकी गतिके लिए कर्मका कोई नियम लागू नहीं होता।

●●

अन्तिम भावके अनुसार गति

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित:॥

(गीता ८/६)

'अन्त समयमें जिन-जिन भावोंको स्मरण करते हुए मनुष्य देह त्याग करता है, अर्जुन! वह सदा उसी भावसे प्रभावित रहता है और वही-वही भाव-उस भावके अनुरूप देह प्राप्त करता है।'

अन्तिम समयका क्या अर्थ? एक व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता है और वह मूर्छा लम्बी चलती है। इस मूर्छामें ही उसके प्राण छूटते हैं तो?

इसका सीधा उत्तर है कि मूर्छासे पूर्वका जो उसका अन्तिम भाव था, वही अन्तिम भाव। मृत्यु मूर्छामें हो, निद्रामें हो या सावधानीमें हो-अन्तत: कोई भाव तो अन्तिम होगा ही। देह-त्यागसे पूर्व जो मनको अन्तिम भाव था, जिसके पश्चात् मनमें दूसरा कोई भाव नहीं आया, वह भाव ही यहाँ ग्रहण करने योग्य है। फिर भले उस भावके तत्काल बाद शरीर छूटा हो अथवा कुछ काल पश्चात्।

मरण-क्षणके इस अन्तिम भावकी बड़ी महिमा है। मनुष्यका यही भाव निर्णायक है कि उसकी कैसी गति होगी।

प्रारब्ध कैसे बनता है?

मनुष्य ही कर्मयोनिका प्राणी है। शेष सब प्राणी भोगी-योनिके हैं; अतः मनुष्य देहके मरण-क्षणकी ही मुख्यता है और मनुष्यके मरनेके समय ही उसके वे सब प्रारब्ध बन जाते हैं, जो भोगयोनियोंमें उसे ले जाने वाले हैं।

जिस समय मनुष्यकी देह छूटने लगती है, उस समय उसका प्रारब्ध तो समाप्त हो चुका होता है। अब उसे देहमें कोई भोग भोगना है नहीं। अतः इस जीवनके क्रियमाण कर्म सञ्चितमें मिल चुके हैं। केवल संञ्चित कर्मके संस्कारोंकी राशि रह गयी है और इसीमें उसका नवीन प्रारब्ध बनना है।

मरते समय जो अन्तिम भाव उस मनुष्यके मनमें आया, कर्मनियन्ता सबसे पहले उस भावको सफल करना अनिवार्य मानता है। उस भावके साथ मेल करने वाले ऐसे संस्कार सञ्चितसे छाँटकर एक प्रारब्ध बनेगा, जिससे उस जीवको एक जन्म मिल सके। यह जन्म पृथ्वीपर ही मिले, यह आवश्यक नहीं है। स्वर्ग, नरक या अन्य किसी लोकमें जन्म मिले, पर वह अन्तिम संस्कार उस जन्ममें सफल बने अब यह जो एक प्रारब्ध बना उससे मेल खाता दूसरा, दूसरेसे तीसरा, इस प्रकार प्रारब्धोंकी लड़ियाँ बन जायंगी और यह श्रृंखला वहाँ समाप्त होगी, जहाँ अन्तमें फिर मनुष्य जन्म मिलने वाला प्रारब्ध बन जाय।

कर्मानुसार और अन्तिम संस्कार (भाव) के अनुसार यह भी हो सकता है कि किसी जीवका पहला प्रारब्ध मनुष्य-जन्म पानेका बन जाय और दूसरा प्रारब्ध बने ही नहीं। यह भी हो सकता है कि पूरे चौरासी लक्ष योनियोंमें जानेके अथवा एक-एक योनिमें कई-कई बार जन्म लेनेके प्रारब्ध बने और तब कहीं मनुष्य-योनि पानेका प्रारब्ध बने। प्रत्येक दशामें श्रृंखला मनुष्य-जन्म देनेवाला प्रारब्ध बनकर समाप्त होती है।

कर्म-नियन्ताके लिए २ नियम मुख्य हैं-१.अन्तिम भाव सफल हो, पहला जन्म ऐसा देना है। २. अब यदि अन्तिम भाव अनेक योनियोंमें सफल हो सकता है तो देखना है कि उसके प्रारब्धों की श्रृंखला इस प्रकार बनानी है, जिससे छोटी-से-छोटी श्रृंखला बने। प्रारब्धोंका संयोजन इस प्रकार करनाहै कि कम-से-कम प्रारब्ध बनें और वह जीव शीघ्र मनुष्य बन सके।

दयामय भगवान्का ही यह परम दयापूर्ण विधान है कि जीवको बार -बार

यथासम्भव शीघ्र अवसर मिलता रहे, साधन-भजनके द्वारा अपने सञ्चितकी अशुभ राशिको भस्म करके जन्म-मरणसे मुक्त हो जानेका।

पुनर्जन्म और स्वर्ग-नरक

ईश्वर न्यायशील है, यह बात अधिकांश लोग-वे सब लोग जो ईश्वरको मानते हैं, स्वीकार करते हैं। इसके साथ यह भी स्वीकार करना चाहिए कि ईश्वरका न्याय समर्थ न्याय है। असमर्थका न्याय नहीं है।

मनुष्यका प्रशासन कितना भी निर्दोष हो, कितना भी न्यायशील हो, मनुष्यकी शक्ति-सीमा हैं, अतः मानव-न्यायशीलता असमर्थ न्याय है। संसारमें बड़े अपराधियोंका लगभग एक ही इतिहास है—विशेषतः हत्याके अपराधियोंका। किसी परिस्थितिमें, किसी भी कारणसे जब एक हत्या वे कर लेते हैं, तब हत्याके प्रति उनकी हिचक, उनका भय मिट जाता है। एक हत्याके दण्डमें भी उन्हें प्राण दण्ड मिलता है और हजार हत्याके दण्डमें भी। अतः उनके लिए मनुष्यके प्राणका महत्व नहीं रह जाता। वे जानते हैं, पकड़े जानेपर उनको फाँसीके तख्तेपर ही खड़ा किया जायेगा और अब वे कुछ भी करें, उनको इससे अधिक दण्ड कोई दे नहीं सकता। अतः अपराध-हत्याके प्रति वे एक प्रकारसे निर्भय हो जाते हैं। उन्हें दो बारतो कोई फाँसी दे नहीं सकता। मानवीय न्याय उनको समुचित दण्ड देनेमें असमर्थ है।

ईश्वरका न्याय भी मानवीय न्यायके समान असमर्थ है क्या? कोई भी भौतिक-शरीर पृथ्वीके समस्त प्राणियोंका देह एक सीमा तक ही पीड़ा या कष्टका अनुभव कर सकता है। यह सीमा प्राणीकी सहनशक्तिके अनुपातसे कम या अधिक हो सकती है; किन्तु एक सीमा आती है कि उससे कष्ट अधिक बढ़े तो प्राणी मूर्छित हो जाता है या मर जाता है। तात्पर्य यह है कि प्राणीको एक बारमें उस सीमासे अधिक कष्टका अनुभव नहीं कराया जा सकता। यही उसे दण्ड मिलनेकी सीमा है। इससे अधिक उसे दण्ड देनेमें मानव-न्याय असमर्थ है।

आप जानते हैं कि संसारमें ऐसे लोग सदासे होते रहे हैं; जो बड़े-बड़े अपराध करते हैं। अनेक हत्याएँ करते हैं। मनुष्य एक क्षणमें ऐसे काण्ड कर डालता है कि उसका समुचित फल-भोग देना हो तो उसे कई सहस्र वर्ष भोगना चाहिए। नादिरशाहने 'कत्ले-आम' का आदेश एक क्षणमें दिया। उसकी आज्ञासे जो-जो

लोग मारे गये उनकी हत्याका वह अपराधी था या नहीं? कोई मानवीय न्याय उसे उन मारे जाने वाले लोगोंकी संख्याके अनुसार प्राणदण्ड दे सकता था।

'कर्म व्यर्थ नहीं जाता। कर्म-फल भोगना ही पड़ता है।' जब कर्म-फलके इस सिद्धान्तकी बात आप करते हैं, तब आपके ध्यानमें यह बात भी रहनी ही चाहिए कि केवल मनुष्ययोनि कर्मयोनि है। शेष सब प्राणी- देवताओंसे लेकर तुच्छ एक-कोशीय अमीवे तकके, कीट तक सब योनियाँ भोग-योनि हैं। मनुष्य योनिमें किये कर्म ही इन योनियोंमें जा-जाकर भोगने पड़ते हैं। इतनेपर भी मनुष्यके कर्मोंकी विपुलता-विविधता एवं प्रचण्डताको देखते ये सब योनियाँ अपर्याप्त लगती हैं। कम-से-कम पार्थिव योनियाँ-पृथ्वीपरके प्राणियोंके शरीर एवं उन शरीरोंकी सुखभोग तथा दुःख सहनकी क्षमताका एक साथ भी विचार कर लें तो वे सब मिलकर भी सम्यक् कर्मभोग देनेके लिए पर्याप्त नहीं जान पड़तीं। ऐसी अवस्थामें ईश्वरका न्याय यदि समर्थ न्याय है तो उसकी सामर्थ्य क्या है?

पाँच भौतिक पदार्थोंकी एक निश्चित वहन-क्षमता है। अतः पञ्च-भौतिक शरीरकी भी वहन-क्षमता होती है। उस क्षमतासे अधिक दवाब पड़नेपर शरीर बिखरने लगता है अथवा अनुभूति खो बैठता है। यह बात केवल दुःखके सम्बन्धमें ही नहीं है, सुखके सम्बन्धमें भी है। सुखानुभव एक प्राणी कितना कर सकता है, इसकी भी एक सीमा है। उस सीमासे बढ़नेपर सुख भी मूर्छा या मृत्यु देनेवाला बन जाता है। आपने सुना होगा कि अकस्मात् किसी बहुत बड़े लाभ या बहुत बड़ी सफलताका सम्वाद पाकर व्यक्ति उन्मादग्रस्त हो गया। अथवा हृदयगति रुक जानेसे मर गया।

आपका चमड़ा जैसे एक सीमा तक गर्मी सह सकता है, उससे अधिक गर्मीसे वह जल कर ऐसा हो जाता है कि आगे गर्मीका अनुभव ही नहीं करता, वैसे ही सर्दी भी आपका चमड़ा एक सीमा तक ही सह सकता है। उससे अधिक शीत मिले तो चमड़ेकी संवेदनानुभव शक्ति लुप्त हो जाती है। मनुष्यके लिए जैसे सीमासे अधिक रुदन मूर्छित करने वाला है, वैसे ही हास्य भी सीमा पार कर मूर्छित कर देता है।

एक छोटा उदाहरण लें। चीनी मीठी है और सेक्रीन भी। चीनीकी बहुत गाढ़ी चाशनी आप पीना चाहें-जिह्वाकी क्या दशा होगी? कुछ अधिक शक्तिकी सेक्रीन मुखमें रख कर देख लीजिये कि वह कड़वी लगती है या नहीं।

तात्पर्य यह है कि जैसे पार्थिव शरीरकी दुःख झेलनेकी एक सीमा है, वैसे ही सुख झेल लेनेकी भी एक सीमा है। उस सीमासे अधिक सुखानुभव भी उसे नहीं कराया जा सकता। दुःख झेलनेकी सीमा से सुख झेलनेकी सीमा कहीं छोटी है। इन्द्रियोंकी रचना कुछ ऐसी है कि वे शीघ्र सुखानुभव खो बैठती हैं। आप बहुत स्वादिष्ट फल या भोजन प्रारम्भ करें, थोड़ी ही देरमें वह स्वादिष्ट लगना बन्द हो जायेगा। उसे लगातार दस-पाँच दिन पेट भरनेका माध्यम बना लें तो उससे अरुचि हो जायेगी। बहुत उत्साहसे कोई चित्र, वस्त्र, बर्तन या अन्य वस्तु लाते हैं; किन्तु चार-छः दिनमें ही उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है।

जैसे मनुष्य एक क्षणमें भयंकर अपकर्म कर डालता है, वैसे ही क्षण भरमें वह अकल्पनीय सत्कर्म भी कर लेता है। ऐसे सत्कर्मका सुखभोग अनन्त होना चाहिए। जैसे किसी निर्धनका बालक है। कभी स्वादिष्ट मिठाई उसे मिली नहीं। देखता है दूसरे बच्चोंको खाते और रो कर, मन मार कर रह जाता है। संयोगवश कभी किसीकी उदारताके फलस्वरूप उसे एक लड्डू मिलता है। आनन्दसे मग्न वह उसे मुखमें ले जाता है, तभी अपने मित्र या भिखारीपर दृष्टि जाती है। उस मित्र या भिखारीकी याचना बच्चेमें उदारता जगाती है; वह लड्डू दे डालता है। इस दानका पुण्य कितना? कोई स्वाद, कोई वैभव ऐसा है जो पार्थिव देहमें उसे इस कर्मका समुचित पुरस्कार उपलब्ध करा सके।

मनुष्यका न्याय जैसे समुचित दण्ड देनेमें असमर्थ है, वैसे ही समुचित पुरस्कार देनेमें भी असमर्थ है। क्या ईश्वरका न्याय भी ऐसा ही होगा? क्या ईश्वर भी उचित पुरस्कार देनेमें असमर्थ होगा? ऐसा नहीं है तो पुरस्कार देनेकी क्या प्रक्रिया, क्या साधन ईश्वरके समीप हैं? क्योंकि मनुष्य तो ऐसे अकल्पनीय पुण्य भी क्षणोंमें कर डालता है कि उसके पुरस्कारमें जो सुखोपलब्धि होनी चाहिए, उस सीमाका सुख झेल लेनेकी शक्ति किसी भी पार्थिव शरीरमें नहीं है।

कोई ईश्वरको भी माने; उस ईश्वरको सर्वशक्तिमान और न्यायकारी भी माने साथ ही स्वर्ग-नरककी अवस्थिति न माने तो कहना होगा कि उसने कर्मके फलपर समुचित विचार किया नहीं है। ईसाई, यहूदी, मुसलमान आदि धर्मोंमें पुनर्जन्म तो नहीं मानते; किन्तु ईश्वरको न्यायकारी मानते हैं-कर्मका फल-दाता मानते हैं, अतः उन्होंने स्वर्ग-नरक माना है। कर्मके फलभोगका सिद्धान्त स्वर्ग-नरककी स्थिति अनिवार्य रूपसे सिद्ध करता है ।

मनुष्यके वे दुष्कर्म जिनका फलभोग किसी भी पार्थिव शरीरमें भोगना

सम्भव न हो, उनके फलभोगका स्थान नरक है। नरकमें प्राणीको यातना-देह प्राप्त होती है। स्मरण रखना चाहिए कि कारण-देह तथा सूक्ष्म-देह तो सदा रहती ही है। स्थूल देह जब मरता है तो तुरन्त आतिवाहिक देह प्राप्त होता है और कर्मानुसार नरक जानेपर आतिवाहिक देह छूट कर यातना-देह मिल जाता है।

यातना-देहकी एक विशेषता है कि वह नष्ट नहीं होता। जैसे किसीने बहुतसे प्राणियोंका वध तलवारसे किया है। यातना-देहमें बार-बार उस कर्ताको तलवारसे काटे जानेकी पीड़ा होगी; किन्तु न वह मूर्छित होगा, न देह नष्ट होगा। किसीने बहुत प्राणियोंको अग्निमें जला दिया है। यातना देहमें बार-बार अग्निमें जलाये जानेका अनवरत कष्ट होता रहेगा; किन्तु देह जलकर नष्ट नहीं होगा। इस प्रकार यातना-देह अतिशय क्लेशानुभव करानेका माध्यम है। उसमें मूर्छा या मृत्यु (देहका नष्ट होना) नहीं है। यहीं एक बात स्पष्ट कर देनी है। श्रीमद्भागवतमें प्राणीको नरक ले जानेका उद्देश्य बतलाते हुए धर्मराजके दूतोंने कहा है—

यत्र दण्डेन शुद्ध्यति॥

(भागवत्- ६/१/६८)

नरकका दण्ड प्रतिशोधात्मक नहीं है। ईश्वर केवल न्यायकर्ता नहीं है। वह दयालु है। भक्ति-मार्गके आचार्य कहते हैं कि परमात्मा दयालु ही हैं। वह दयामय हैं अर्थात् उसका सम्पूर्ण रूप केवल दया है। उसमें न्यायकी बात ही व्यर्थ है। भला माता कहीं अपने पुत्रका अपराध गिनती है और उसका न्याय करने बैठती है। ईश्वरको अपना कोई बच्चा कभी अपराधी नहीं दीखता। वह किसीके दोष देखना जानता ही नहीं। अतः उसका एक नाम उत्तमश्लोक है।

तब नरक क्यों? संसारमें प्राणी दुखी भी क्यों? इसलिए कि जब प्राणी दुष्कर्म करता है तो उसका अन्तःकरण मलिन हो जाता है। अज्ञानी बालक जब कीचड़ लपेट लेता है शरीरमें तो दयामयी माताको बालकके रोने-धोनेकी उपेक्षा करके उसे नहलाना पड़ता है। मल जितना कड़ा होगा, स्वच्छताका प्रयास भी उतना कड़ा तथा दीर्घकालीन होगा। ये कष्ट तथा नरक ईश्वरीय दण्ड-विधान नहीं हैं। ये ईश्वरीय वात्सल्यके प्रतीक हैं। इनके द्वारा ईश्वर अपने उन अज्ञानी बच्चोंको स्वच्छ करता है, जिन्होंने अज्ञानके कारण अपने आपको मलिन बना लिया है।

कोई जीव तब तक ही विभिन्न नरकों में निवास करता है जब तक उसके

अपकर्म इतने कम न हो जायें कि किसी पार्थिव देहमें उनका फल भोगना सम्भव बने। जैसे ही पार्थिव देहोंमें फल-भोगना सम्भव हो जाय, ऐसे कर्म फल देनेको रह जाते हैं, उस प्राणीको पृथ्वीपर जन्म मिलने लगता है। भले उसे कृमि योनिसे ही जन्म लेनेका क्रम चलाना पड़ता हो। लेकिन यह आवश्यक नहीं कि नरकसे पृथ्वीपर आया जीव पहले कृमि बने और फिर क्रमशः अन्य योनियोंमें उन्नति करता चले। हो तो यह भी सकता है कि जीव नरकसे सीधे मनुष्य योनिमें आवे। क्योंकि उसके कर्म कैसे थे, बात इसपर निर्भर है। कर्म ऐसे भी हो सकते हैं कि उनका फल जो पार्थिव देहोंमें भोगना सम्भव नहीं था, जब नरकमें भोग लिया गया तो मनुष्य योनि देने योग्य कर्म सञ्चितमें बच रहे हों।

जो अवस्था कर्मोंकी नरकके सम्बन्धमें है, लगभग वही बात स्वर्गके सम्बन्धकी है। जिन पुण्य कर्मोंका फल किसी भी पार्थिव शरीरमें भोग पाना सम्भव नहीं है, उनका फल-सुख भोगनेके लिए प्राणीको स्वर्ग जाना पड़ता है। जैसे आतिवाहिक देह छूटकर नरकमें यातनादेह मिलता है, वैसे ही आतिवाहिक देह छूट कर स्वर्गमें भोग देहकी प्राप्ति होती है।

भोग देहकी विशेषता यह है कि उसमें सुखोपलब्धि तो है किन्तु इन्द्रिय असमर्थताजन्य तृप्ति नहीं है। जैसे इस देहमें रसगुल्ला खानेमें जो मजा है, वह तो स्वर्गमें मिलता रहेगा; किन्तु यहाँ जो पेट भर जानेसे तृप्ति होगी, कई दिन लगातार खानेसे ऊब होगी, वह उस देहमें नहीं होनी है। यही बात अन्य ऐन्द्रियक भोगोंके सम्बन्ध में है।

स्वर्गमें देवता जो सुख-भोग प्राप्त करते हैं, वे स्थूल भोग नहीं हैं। जैसे देवता खाते नहीं, वे गन्ध-ग्राही हैं। आपको स्वाद, जो सुख पदार्थको खाकर प्राप्त होता है, वही सुख-स्वाद देवताओंको पदार्थकी गन्ध सूँघ कर प्राप्त हो जाता है। स्वर्गमें अप्सराएँ हैं का यह अर्थ नहीं है कि देवता पृथ्वीके प्राणियोंके समान उनका दैहिक सुख भोगते हैं। जो सुख पृथ्वीपर स्त्री-पुरुष दैहिक संयोगमें पाते हैं, देवताओंको वही सुख केवल दृष्टि-स्पर्श अर्थात् देखनेसे प्राप्त होता है। अतः उसमें श्रान्ति-जन्य समाप्ति एवं खिन्नता नहीं है।

नरकके पश्चात् जैसे प्राणी पृथ्वीपर जन्म लेता है, स्वर्गसे सीधे पृथ्वी पर जन्म ले, यह आवश्यक नहीं है। गन्धर्व, किन्नर आदि कुछ उपदेव जातियाँ भी हैं और उनके लोक भी हैं। जैसे नरकोंके अनेक वर्ग हैं, देव-योनियोंके भी अनेक

वर्ग हैं। जैसे एक ही जीव कर्मानुसार अनेक नरकोंमें क्रमशः जा सकता है, वैसे ही वह कर्मानुसार क्रमशः अनेक देवोपदेव योनियोंमें भी जा सकता है।

जब स्वर्गका सुख-भोग करके जीवके कर्म ऐसे रह जाते हैं कि पार्थिव शरीरमें उसे जन्म मिल सके तो स्वर्गसे वह पृथ्वीपर जन्म लेने आता है। जैसे नरकसे पृथ्वीपर आये प्राणीका कृमि शरीरमें ही जन्म लेना अनिवार्य नहीं है-वैसे सम्भावना इसीकी अधिक रहती है, वैसे ही स्वर्गसे पृथ्वीपर लौटा प्राणी मनुष्यदेह ही पावे, यह कोई अनिवार्य नियम नहीं है। यद्यपि मनुष्य-योनि मिलनेकी ही अधिक सम्भावना रहती है; किन्तु इतर प्राणियोंमें भी कर्मानुसार उसका जन्म सम्भव तो है ही।

नरकसे पृथ्वीपर आया प्राणी जहाँ कहीं जिस योनिमें भी होगा मलिन, असत्वोन्मुख, क्रूर, स्वार्थलोलुपताकी गन्ध उसमें परिलक्षित होती रहती है। स्वर्गसे आये प्राणीमें शील, सदाचार, त्याग, शुचिता, परोपकारादि सद्‌गुणोंकी सुगन्ध कुछ न कुछ अवश्य बची रहती है।

कर्मके सिद्धान्तकी सत्यता स्वीकार करनेपर स्वर्ग-नरकके सम्बन्धमें संदिग्ध रहनेका कोई अर्थ नहीं है। स्वर्ग एवं नरककी अवस्थिति उतनी ही सत्य है जितना कर्मके फल-प्राप्तिका सिद्धान्त।

●●

पुनर्जन्म-पितृलोक-श्राद्ध

अब तक संसार में कोई ऐसा जंक्शन नहीं बन सका; जहां कई ओरको गाड़ियाँ तो जाती हों; किन्तु किसी यात्रीको प्रतीक्षा न करनी पड़े। ऐसा जंक्शन कभी बन भी नहीं सकेगा; क्योंकि विभिन्न ओरसे आने-जानेवाली गाड़ियोंके लिए और भी बहुत-सी बातोंका ध्यान रखकर चलाना पड़ता है। फलतः जंक्शनपर यात्रियोंके लिए प्रतीक्षालय बनाना अनिवार्य आवश्यकता है। प्रत्येक यात्रीको प्रतीक्षा ही करनी पड़ेगी, ऐसी कोई बात नहीं है। बहुत-सी गाड़ियोंका परस्पर मेल होता है, किन्तु सबका मेल नहीं हो सकता। आप किसी

जंक्शनके यात्रियोंका वर्ष भरका हिसाब देखें तो उनके कम या अधिक प्रतीक्षा करनी पड़ी हो, ऐसे यात्रियोंकी संख्या ही अधिक मिलेगी।

जब आप पुनर्जन्मके नियमको मान लेते हैं तो अनिवार्य रूपसे आपको एक प्रतीक्षालोक मानना पड़ेगा। यदि आप इसे नहीं मानते तो आपने पुनर्जन्मके नियमपर पूरा विचार ही नहीं किया है। पुनर्जन्मका अर्थ है जीवकी एक शरीरसे दूसरे शरीरके लिए यात्रा। यह यात्रा विभिन्न शरीरोंमें होती है। अनन्त शरीर हैं और उनमें अनन्त जीव हैं। उन जीवोंके अपने-अपने कर्म हैं। अपने-अपने प्रारब्ध हैं। कहीं भी जन्म लेनेका अर्थ है एक जीवका बहुतसे जीवोंके साथ सम्बन्ध स्थापित होना। कोई माता, कोई पिता, कोई भाई या बहिन, कोई स्त्री, कोई पुत्र, कोई मित्र-इस प्रकार सैकड़ों सम्बन्ध एक जीवके जन्म लेनेसे बनते हैं। ये सम्बन्ध बनते हैं कर्मके अनुसार। एकको यदि कर्मानुसार अमुकका पुत्र बनना है तो उस अमुकको भी तो कर्मानुसार ही उस पुत्रका पिता बनना है। ऐसा तो है नहीं कि ये सब जीव पहिले भी कहीं एकत्र रहे हों और एक साथ या एक अनुपातसे मरकर उसी हिसाबसे जन्म लें। सब जीवोंके प्रारब्ध पृथक-पृथक् हैं। कौन किस देहसे आया, कुछ ठिकाना नहीं। किस देहमें कौन कब तक रहेगा? जब तक उसका अपना प्रारब्ध रखे। ऐसी अवस्थामें एक प्राणी मरे तो तत्काल दूसरे देहमें जन्म ले ले, यह बात कैसे बन सकती है? यह तो एक असम्भव स्थिति है।

एक प्राणी मरता है। अब उसे दूसरा जन्म मिलता है। इस जन्ममें जिन्हें उसका माता-पिता बनना है, क्या सम्भव नहीं है कि अभी उनका उपयुक्त शरीरमें जन्म ही न हुआ हो? अतः जब तक उनका जन्म न हो जाय और वे उस प्राणीको जन्म देनेकी उपयुक्त स्थितिमें न हो जायें, उस जीवका क्या होगा? उतने काल उसे प्रतीक्षाके लिए रुके रहनेका स्थान चाहिए या नहीं? इस प्रकारका जो स्थान है-उसे प्रतीक्षालोक न कहकर शास्त्रकी भाषामें उसे पितृलोक कहते हैं और उस लोकके नियन्ता-व्यवस्थापकका नाम अर्यमा है।

यह आवश्यक नहीं है कि सब जीवोंको प्रतीक्षा करनी ही पड़े। यदि जन्म लेनेकी हर परिस्थिति विद्यमान है तो वह तत्काल जन्म ले सकता है। लेकिन यदि परिस्थिति विद्यमान नहीं है तो उसे प्रतीक्षा करनी है। इस प्रतीक्षाकी कोई अवधि निश्चित नहीं है। क्योंकि जीवोंके कर्म अनिश्चित हैं। मनुष्यको कर्म करनेमें

स्वातन्त्र्य प्राप्त है। फलतः किस जीवको कब तक पितृलोकमें रहना होगा इसका कोई समय निश्चित नहीं किया जा सकता।

यहाँ एक बात विचार कर लेनेकी है। उपनिषदोंमें और पुराणोंमें भी कुछ वाक्य ऐसे हैं, जिनका यह अर्थ निकलता है कि जीव एक देह त्यागकर तत्काल दूसरा देह ग्रहण कर लेता है। श्रीमद्भागवतमें तो 'तृण जलौंका' घासपर रेंगनेवाले कीड़ेका नाम लेकर कहा गया है-जैसे यह कीड़ा एक तिनकेको अपने अगले भागसे पकड़ कर तब पहले तिनकेको छोड़ता है, वैसे ही जीव एक शरीरको पकड़ कर तब पहले शरीरको छोड़ता है।

आप इस वर्णनपर ध्यान दें तो बात स्पष्ट हो जायेगी। आप क्या इसे अनुभव करते हैं कि एक वृद्ध तब मरता है, जब कहीं अन्यत्र माताके गर्भमें वह आ चुका हो या उसका शरीर बनने लगा हो? आप ऐसा मानेंगे तो प्रश्न आवेगा कि उन्हीं ग्रन्थोंमें जो जीवके चन्द्रमा, मेघ, औषधि आदिके क्रमसे पिताके वीर्यमें आनेका वर्णन है, उसकी क्या संगति लगेगी?

यहाँ जीव क्या है, इस बातका विस्तार नहीं करना है। इसे एक पृथक् लेखके लिए रहने दें। यहाँ इतना समझ लें कि जीव जब तक मुक्त न हो जाय, उसके तीन शरीर सदा रहेंगे। बिना तीन शरीरोंके वह रह नहीं सकता। इनमें एक कारण या लिंग शरीर है। जीवके जीवत्वका जो कारण है, वह अविद्या देहमें अहंभाव ही कारण-शरीर है। दूसरा शरीर सूक्ष्म-शरीर है। यह सूक्ष्म-शरीर वह है, जिससे आप स्वप्न देखते हैं। इसमें दस इन्द्रियाँ, अन्तःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) पञ्च-तन्मात्राएँ (रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श) होती हैं। इनके आधारभूत रूपमें अहंतत्व, महतत्व तथा प्रकृति तो व्यापक है ही और चेतन-जीवका यह शरीर है अतः उसकी उपस्थिति कहना अनावश्यक है। जब तक जीव प्रकृतिके क्षेत्रमें है, जन्म मरणके चक्रमें पड़ा है, ये दोनों शरीर उसके अभिन्न अंगके समान हैं। तीसरा शरीर परिवर्तित होता रहता है। जन्म-मरण इस तीसरे शरीरका ही होता है इस तीसरे शरीरकी बात समझना आवश्यक है।

जीवका तीसरा शरीर स्थूल कहा जाता है। यह जीवके लिए वस्त्रके समान है औरजीव इतना सुसभ्य है कि एक क्षण भी नंगा नहीं होता। जैसे सभ्य पुरुष जब सबके सामने स्नान करता है, तब सूखी धोती या तौलिया लपेटकर नीचेका अधोवस्त्र छोड़ता है, वैसे ही जीव एक तीसरा शरीर अपनाकर तब पहिला स्थूल शरीर छोड़ता है। यही बात उपनिषदों और भागवतमें कही गयी है। लेकिन जीव

जिस तीसरे शरीरको पकड़ कर स्थूल शरीर छोड़ता है, वह शरीर भी स्थूल या पञ्चभौतिक ही होता है, यह बात कहीं नहीं कही गयी है। इससे भिन्न जो बात कही गयी है, उसे समझनेपर पितृलोक समझमें आ जाता है।

हमारा आपका यह दीखने वाला शरीर, मिट्टी, पानी, अग्नि, वायु तथा आकाशके मिश्रणसे बना है। इसे पञ्चभौतिक स्थूल शरीर कहते हैं। पृथ्वीके सभी प्राणियोंका शरीर पञ्चभौतिक है। जब कोई प्राणी इस स्थूल शरीरको छोड़ने लगता है तो उसे उसकी वासनाओंके अनुसार एक देह मिल जाता है। इस देहको शास्त्रकी भाषामें आतिवाहिक देह कहते हैं। यह आतिवाहिक वासनादेह बन जाता है और तब इसका आश्रय लेकर जीव स्थूल पञ्चभौतिक देहका त्याग करता है। उपनिषदों और भागवतमें भी इसी तथ्यका वर्णन है।

आतिवाहिकदेह स्थूल पञ्चभौतिक शरीरमें स्थित साधारण लोगोंके लिए अदृश्य होता है। वैसे भोग सिद्ध पुरुष, विशेष शक्ति रखने वाले लोग इसे देख सकते हैं। कभी कोई मरनेवाला पुरुष समर्थ होता है और वह जिनको चाहता है, दिखाई पड़ सकता है। क्योंकि यह वासनादेह है, इसका आकार प्रायः वही होता है जो मरने वालेके स्थूलदेहका आकार था। यही देह पितृलोकमें रहता है। अतः पितरोंका आकार भी वही रहता है और अपने स्थूलदेहके नाम एवं सम्बन्धियों आदिसे उनका तादात्म्य एवं मोह भी रहता है। आतिवाहिकदेह ही प्रेतदेह है। यदि उसे पितृलोकमें स्थान न मिला अपने राग या द्वेषसे अत्यन्त आबद्ध होनेके कारण वह जीव पितृलोक न जा सका और पृथ्वीके वातावरणमें ही बँधा रहा तो यहीं भटकता रहता है। अतः प्रेतोंका भी आकार प्रायः वह होता है जो मरते समय उनके स्थूल शरीरका आकार था। वैसे वासनादेह होनेके कारण इच्छानुसार इस देहका आकार परिवर्तित किया जा सकता है।

आतिवाहिकदेहकी भी आयु होती है। प्रेतादि योनियोंकी भी आयु है। पितृलोकमें रहनेकी अवधि समाप्त होती है तो वहाँका आतिवाहिकदेह समाप्त होता है। जिनको तत्काल जन्म लेना है अथवा स्वर्ग-नरक या अन्य किसी लोकमें जाना है उन्हें उस लोकके अनुसार देहकी प्राप्ति होती है। स्वर्गमें भोगदेह, नरकमें यातनादेह तथा अन्य लोकोंमें उसके अनुरूप देह। इस प्रकार जब भी कोई अन्य देह मिलना होता है, आतिवाहिक देह समाप्त हो जाता है।

पितृलोक न कर्मलोक है और न भोगलोक। वह तो प्रतीक्षालोक है। अतः वहाँ गये प्राणीको अपना कर्मफल नहीं मिलता; किन्तु उसे भोगकी अपेक्षा रहती

है। क्यों रहती है? इसे आप सहज समझ सकते हैं। हम सबको दो प्रकारकी भूख लगती है। इसमें देहकी आवश्यकतासे जो भूख लगती है उसे भूख या क्षुधा कहते हैं। आपको भूख लगे-यह दैहिक भूख लगे तो वह फलसे, रोटीसे या किसी भी खाद्यसे तृप्त हो जाती है। दूसरी भूखका सम्बन्ध स्थूल शरीरसे नहीं, मनसे होता है। इसे तृष्णा कहते हैं। जैसे आपको आम या मिठाई खानेकी इच्छा होती है। यह इच्छा रोटी या चावल खा लेनेसे नहीं मिटेगी। रोटी खानेसे पेट भर जायेगा; किन्तु आम खानेकी भूख बनी रहेगी। उसकी व्याकुलता भी बनी रहेगी; क्योंकि यह भूख तनमें न होकर मनमें है। जो मर गया है, उसके पास स्थूल शरीर नहीं है। अत: उसे स्थूल शरीरमें लगने वाली भूख नहीं लगती; किन्तु मन तो उसके पास वैसा ही है जैसा जीवनकालमें था। अत: मनमें लगने वाली भूख उसे वैसी ही लगती है, जैसी आपको लगती है।

साधारण भोजनकी भूख भी प्राय: मनमें लगती है। प्रतिदिन जिस समय जलपान करने, भोजन करनेका अभ्यास होता है, उस समय मन भोजन माँगने लगता है। भले पेटको भोजनकी उस समय आवश्यकता न हो। मनकी यह भूख भी उसे पितृलोकस्थ प्राणीको लगती है।

तब क्या पितृलोकमें जो है, उसे पदार्थ आवश्यक है? उतने ही अंशमें आवश्यक है, जितने अंशमें आपको आवश्यक है। इसके लिए आप यह समझ लें कि मनकी भूख मिटती कैसे है। आपके मनमें आम खानेकी इच्छा हुई, इच्छा कम भी हो सकती है, तीव्र भी हो सकती है। आपने आम लिया और खाया तो वह इच्छा तृप्त हो गयी। आम स्थूल पदार्थ था। उसका रस आपकी स्थूल जीभपर होकर स्थूल शरीरमें पहुँचा। इस शरीरमें ही वह रस पचेगा। मनमें उस आमके रसका क्या पहुँचा? मनमें केवल एक भावना बनी-'मैंने आम खाया।' इस भावनाके अतिरिक्त तो मनमें कुछ पहुँचा नहीं। आम खानेकी इच्छा मनमें हुई और 'मैंने आम खाया' यह भावना मनमें बनी तो वह इच्छा तृप्त हो गयी।

अब आप देखो कि मृत प्राणीके पास स्थूल शरीर नहीं है। अत: उस तक स्थूल आम या उसका रस पहुँचे, इसकी आवश्यकता भी नहीं है। उसके पास मन है। उस मनमें हमारे आपके समान क्षुधा-तृषाकी भावना बनती है। उसकी तृप्ति हो जाय इसके लिए उसके मनमें भावना बननी चाहिए कि 'मैंने यह पदार्थ भोगा।' आपका स्थूल देह है अत: आप आम खा सकते हैं। आम खाये बिना आपके मनमें आम खाने की भावना नहीं बन सकती। पितृलोकस्थ प्राणीके

पास स्थूलदेह नहीं, अतः आम खा तो वह सकता नहीं। तब किसीको उसका ठीक प्रतिनिधि बनाया जाय-ऐसा प्रतिनिधि जिसके भोजनको वह अपना भोजन मान सके। प्रतिनिधिका सम्मान या अपमान सम्मान-अपमान होता है, जिसका वह प्रतिनिधि है, यह आप जानते हैं। अब बात रहती है, ठीक प्रतिनिधि की। इस सम्बन्धमें एकमात्र शास्त्र प्रमाण है। शास्त्रमें जो श्राद्ध-भोजनके उपयुक्त पात्र कहे गए हैं, वे ही ठीक प्रतिनिधि हैं। उनको भोजन कराने तथा तर्पण-पिण्डदानादिसे पितृलोकस्थ प्राणीको अनुभव होता है कि पदार्थ उसे मिल गया। यह अनुभव ही तृप्तिका हेतु है। पदार्थ तो यहाँ जीवनमें भी आपके मनको कहाँ मिलता है। मनको तो यह मिलनेका अनुभव ही तृप्त करता है।

शरीरको आवश्यकता न होनेपर भी मनमें अतृप्ति होती है और उसकी तृप्ति आवश्यक है। इस मानसिक तृप्तिका महत्व कम नहीं है। मानसिक अतृप्ति पितृलोक गत प्राणीको भी ठीक वैसी होती है, जैसी इस लोकके व्यक्तिको। अतः उसकी तृप्तिकी भी नियमित व्यवस्था होनी चाहिए। इस व्यवस्थाका नाम ही श्राद्ध है। यह पता नहीं है कि कौन-सा जीव कब तक पितृलोकमें रहेगा, अतः श्राद्ध सबका होना चाहिए।

आप कहीं एक मनीआर्डर भेजते हैं। पानेवाला वहाँ नहीं है तो वह जहाँ होगा, मनीआर्डर उन पतेपर चला जायेगा। पाने वालेका पता नहीं होगा तो वह भेजनेवालेके पास लौट आवेगा। आपने श्राद्ध किया विधि पूर्वक। पदार्थ तो कहीं जाने नहीं हैं, उनकी प्राप्तिसे होने वाली तृप्ति जानी है। आपके वे पितर जिनके निमित्त श्राद्ध किया गया, वे पितृलोकमें हैं तब तो ठीक ही है। पितृलोकमें नहीं हैं तो जहाँ जिस योनिमें हैं, श्राद्धफल जन्म तृप्ति वहीं उन्हें मिलेगी। पितृलोकके व्यवस्थापक अर्यमा देवता यह व्यवस्था कर देंगे। आपके वे पितर कहीं नहीं हैं-वे मुक्त हो गये हैं तो वह तृप्ति आपको स्वयं होगी। यह अनुभव तो हम सबका है कि जीवनमें अनेक बार अकारण मनमें बड़ी तुष्टि, बड़ी तृप्ति प्रतीत होती है। पता नहीं वह कहाँसे किस पूर्वके सम्बन्धीकी कृतिका फल हमें अदृश्य व्यवस्थापक दे रहा होता है।

इस सम्बन्धमें थोड़ी-सी बात और समझ लेनेकी है। आपने उपार्जन किया। आपके धनका दान आपका मुनीम करे तो दानका पुण्य किसे प्राप्त होगा? आपको या आपके मुनीम को? मुनीमको भी सत्कार्यमें निमित्त बननेका पुण्य

तो होगा; किन्तु दानका मुख्य पुण्य तो आपको ही मिलेगा। इसमें आप देख रहे हैं कि उपार्जन आपका होना आवश्यक है। दान भी आप ही करें, यह आवश्यक नहीं है। जो व्यक्ति परलोक गया है, उसका उपार्जन तो यही है। उसमें-से उसके लिए श्राद्ध, तर्पण, दान किया जायेगा तो उसका फल उसे प्राप्त होगा इसमें सन्देहको स्थान कहाँ है?

हिन्दू-धर्ममें पिताकी सम्पत्तिमें पुत्रका उत्तराधिकार इसलिए नहीं है कि वह पुत्र है। यह उत्तराधिकार उसे इसलिए है कि वह श्राद्ध करनेका अधिकारी है। हिन्दू-धर्म व्यक्तिकी सम्पत्तिका उत्तराधिकार उसे उपार्जनको श्राद्ध-भाग देनेके लिए करता है। इसलिए पुत्र न होनेपर सम्पत्ति उसे मिलती है जो श्राद्धका अधिकारी होता है। इस तथ्यको न समझ कर ही कन्याके उत्तराधिकारकी बात उठी और वैसा कानून बना।

श्राद्ध करनेका अधिकारी कौन? श्राद्धमें भोजनका अधिकारी कौन? इस निर्णयमें पितृलोक एवं उसके अधिपति अर्यमाकी स्वीकृति, उनके भी नियमोंकी अनुकूलता आवश्यक होती है। अत: यह निर्णय केवल शास्त्रके द्वारा ही होता है। पृथ्वीके लोगोंके बौद्धिक विलाससे तर्कसे, यह निर्णय किया नहीं जा सकता।

●●

स्वेच्छा-जन्म: भगवदिच्छा-जन्म

यहाँ परेच्छा-जन्मकी चर्चा नहीं करनी है; क्योंकि ऐसा जन्म तो प्राय: सभीका होता है। सभी प्रारब्धानुसार कर्म-नियन्ताके विधानका अनुगमन करके जन्म लेते हैं।

स्वेच्छा-जन्म केवल सिद्ध पुरुषों अथवा भगवत्पार्षदोंका अर्थात् कर्म-बन्धनसे विमुक्त लोगोंका ही नहीं होता, हमारा आपका भी हो सकता है। अवश्य ही सामान्य प्राणीका स्वेच्छा-जन्म तभी सम्भव है, जब उस इच्छामें दृढ़ता हो और उसके अनुसार प्रयत्न किया गया हो।

पुनर्जन्मकी स्मृति

बहुतसे बच्चोंको पुनर्जन्मकी स्मृति रहती है। ऐसी घटनाओंकी छानबीन करें तो इसमें स्वेच्छा-जन्मका कारण भी निकल आवेगा।

विस्मृति तो स्वाभाविक है। इस जन्मकी ही पुरानी बातें स्मरण नहीं रहतीं तो पिछले जन्मोंकी बातें कैसे रह सकती हैं। पिछली बातें वे स्मरण रहती हैं जो हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण होती हैं। जिनका प्रभाव हमारे मनपर गहरा पड़ा होता है।

अधिकांश जीवोंको तो स्वर्ग, नरक तथा अनेक अन्य योनियोंमें भटकनेके बाद मनुष्य-जन्म मिलता है। कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदिमें स्मरण-शक्ति ही अत्यल्प है। जो थोड़ेसे जीव मनुष्य-योनिसे मनुष्य योनिमें जन्म लेते हैं, उनमें भी सबको पुनर्जन्मकी स्मृति रहे, यह सम्भव नहीं है। पिछले शरीर एवं परिवारमें जिनकी बहुत आसक्ति रही है, उसका मनुष्य-जन्म हो तो उनमें पुनर्जन्मकी स्मृति रहनी सम्भव है।

मनुष्य जन्म ही क्यों?

प्राय: ऐसे बच्चे जिन्हें पुनर्जन्मकी स्मृति होती है, अपना पिछला जन्म भी मनुष्यका ही बतलाते हैं। मनुष्य मरे तो मनुष्य ही हो, यह नियम तो है नहीं। एक दो घटनाएँ ऐसी भी मिलती हैं, जिनमें पिछले जन्ममें हिरण आदि पशु रहनेकी स्मृति भी बच्चोंको रही है, किन्तु सम्भावना यही अधिक है कि जो पशु-पक्षी आदि योनिसे मनुष्य योनिमें आवेंगे, उन्हें पिछले जन्मकी स्मृति रहेगी ही नहीं।

पुनर्जन्मकी स्मृति रखनेवाले बच्चोंकी घटनाओंकी बातोंपर ध्यान दें तो एक तथ्य सामने आता है कि उन सबकी पिछले जीवनमें अकाल मृत्यु हुई थी। इसमें अपवाद तभी मिलेगा, जब जन्म लेनेवाला पिछले जीवनमें योगी अथवा उच्चकोटिका साधक रहा हो।

हत्यासे, चोट लगकर अथवा किसी रोगसे किसीकी अकाल मृत्यु हो गयी। उसका शरीरमें बहुत प्रबल मोह बना रहा। ऐसी अवस्थामें उसे मनुष्य-जीवनका शेष प्रारब्ध भोगनेके लिए मनुष्य जन्म मिलना चाहिए। हत्याके द्वारा जो मारे गये हैं, उनमें हत्यारेके प्रति प्रबल द्वेष हो तो वे प्रेत बन सकते हैं, किन्तु जो पुनर्जन्मकी स्मृति रखने वाले बच्चे पिछले जन्ममें अपनी मृत्युका कारण हत्या

बतलाते हैं, उनमें हत्यारेके प्रति प्रबल द्वेष नहीं देखा जाता। उनमें द्वेषकी अपेक्षा शरीरका मोह मरते समय प्रबल रहा था। अतः वे अपना अपूर्ण प्रारब्ध भोगनेके लिए मनुष्य हो गये।

पुनर्जन्मकी स्मृति रखने वाले बच्चे जब इस देह-परिवारमें आसक्त होते हैं तो पिछली स्मृति भूल जाती है। फिर कोई उनकी खोज-खबर नहीं रखता। वस्तुतः यह खोज-खबर रखी जानी चाहिए कि जिन बच्चोंको पहले पुनर्जन्मकी स्मृति थी, उनका यह शरीर कितने वर्ष तक रहा। उनकी यह आयु और जिस आयुमें पिछले जन्ममें उन्होंने अपनी मृत्यु बतलायी है, दोनोंको मिलाकर तब कोई निर्णय अधिक उपयुक्त होगा।

अपना मनुष्य जन्म कैसे हो?

इस बातसे तो कोई लाभ नहीं है कि किसीकी अकाल मृत्यु हो और फिर उसे मनुष्य-जन्म मिले। ऐसा अवसर किसीकी कामनाका विषय नहीं हो सकता। क्योंकि एक वयस्क व्यक्ति अकाल मृत्युको प्राप्त होकर पुनर्जन्म लेगा तो उसकी आयुका एक बड़ा भाग बाल्यकालकी असमर्थतामें ही चला जायेगा। अतः मनुष्य जन्म पानेके दो सुनिश्चित उपाय हैं।

१. जो वस्तु दान की जाती है, दाताको पुनः अगले जीवनमें कई गुना होकर मिलती है, यह नियम है। आपमें जो विद्या है, उसका दान करते रहिये। कर्म-नियन्ता आपको विद्या देनेके लिए विवश रहेगा और विद्या तो केवल मनुष्यको ही मिल सकती है।

२. आप किसी भी पारमार्थिक साधनमें लग जाइये। श्रीकृष्णचन्द्रने घोषणा कर रखी है-

जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते॥ *(गीता-६/४४)*

जिसने यह जाननेकी इच्छा भी की कि-'आत्माका परमात्मासे मिलन कैसे होता है? 'वह अन्ततोगत्वा शब्द-ब्रह्म अर्थात् वैदिक मर्यादाओंसे कर्मके बन्धनसे पार होकर रहेगा।

जो साधन-भजनमें लगा है, वह बार-बार साधन-भजनका अवसर तब तक पाता रहेगा, जब तक वह जन्म-मरणसे छूट नहीं जाता।

इन दो साधनोंके अतिरिक्त मनुष्य-जन्म एक तीसरे प्रकारसे भी प्राप्त होता है और वह प्राप्त होता है लोकोपकारी, निष्काम; प्रबल संकल्प वाले व्यक्तिको।

'मैं बार-बार भारतमें जन्म लूँ और मातृभूमिके उद्धारके लिए बार-बार जीवनार्पण करूँ!' ऐसी भावना फाँसीके तख्तेपर खड़े अनेक देशभक्त लोगोंने समय-समयपर प्रकट किया है।

'मैं इन दीनोंकी सेवाके लिए फिर इनके मध्य आऊँगा।' ऐसे मनोभाव मरण-क्षणमें व्यक्त करने वाले महापुरुष भी संसारके सभी देशोंमें होते रहे हैं।

ऐसे महान् प्राणोंको कर्मनियन्ता पुनः अपना संकल्पपूर्ण करनेके लिए अवसर दे दे, यह अस्वाभाविक बात नहीं है। ऐसे लोग तुरन्त भी मनुष्य-जन्म पा सकते हैं और अपने पुण्योंका दिव्य लोकोंमें बहुत काल तक उपभोग करनेके पश्चात् भी।

सिद्ध-पुरुषोंका स्वेच्छा-जन्म

यह आवश्यक नहीं है कि योगसिद्ध अथवा भगवद्भक्त अपने नित्य दिव्य-लोकमें या सिद्ध-लोकमें हो, तभी उसे पृथ्वीपर जन्म लेनेका अवसर मिले। ऐसी घटनाओंका भी वर्णन मिलता है कि किसी सिद्ध योगीने अमुकका पुत्र होनेका संकल्प करके शरीर त्याग दिया और उसके पुत्र रूपमें उसने जन्म लिया। जैसे योगी अपने संकल्प-बलसे परकाय-प्रवेश कर सकता है, वैसे ही वह देह त्यागकर किसी माताके गर्भमें भी जा सकता है। इस नवीन जन्ममें वह अपने अवशिष्ट प्रारब्धका भोग करता है।

सिद्ध लोकोंमें स्थित महापुरुष भी स्वेच्छासे, संसारके प्राणियोंपर दया करके, लोकमें किसी उद्देश्य विशेषसे किसी माताके गर्भसे जन्म ले सकते हैं। इनका जन्म-कर्म-परतन्त्र नहीं हुआ करता। ये जैसा रहना चाहते हैं, वैसा जीवन लोकमें व्यतीत करते हैं और अपना उद्देश्य पूरा करके देह त्याग देते हैं। देह त्याग कर ये पुनः जहाँसे आये थे-उसी लोकमें चले जाते हैं ।

यद्यपि ऐसे स्वेच्छासे जन्म लेने वाले मनुष्य ही कर्मयोनिमें आते हैं किन्तु उनकी स्थिति लगभग भोगयोनिके प्राणियों जैसा ही रहती है। वे कर्मयोनिमें आकर भी कर्मके बन्धनसे मुक्त ही रहते हैं। निष्काम-अनासक्त चित्त होनेके कारण कर्मलेप उन्हें नहीं होता।

देवता, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि-मुनि आदि व्यक्ति विशेषपर अथवा किसी समूह विशेषपर कृपा करके उसका कोई कार्य विशेष सम्पन्न करनेके लिए स्वेच्छासे जन्म ग्रहण कर लेते हैं। ऐसे वर्णन शास्त्रोंमें बहुत स्थान पर आये हैं। प्रायः सभी धर्मोंके अनुयायियों का विश्वास है कि उनके आद्याचार्य (अमुक और भी आचार्य) कर्मबन्धन-विमुक्त थे और जीवोंपर दया करके उनका उद्धार करनेके लिए उन्होंने स्वयं पृथ्वीपर जन्म ग्रहण किया अथवा परमात्माकी ओरसे वे पृथ्वीपर भेजे गये।

भगवदिच्छा-जन्म

अनन्त करुणावरुणालय भगवान् यद्यपि सर्व समर्थ हैं; किन्तु उनका नियम है कि वह अपनी ओरसे परतन्त्र नहीं बनाते। वे किसी मनुष्यको बलात् किसी कर्ममें प्रवृत्त नहीं करते। वे किसीके कर्मभोगमें भी अपनी ओरसे हस्तक्षेप नहीं करते। भक्तिशास्त्रके महानाचार्य श्री रामानुजाचार्यने भगवान्के स्वभावके सम्बन्धमें लिखा है- 'रक्षापेक्षामपेक्षते।'

जो उनकी शरणमें जाता है, जो उनसे रक्षाकी अपेक्षा करता है, उसकी वे रक्षा करते हैं। उसे वे अनिष्टसे बचाकर इष्ट मार्गमें लगाते हैं।

जगत्के जीवतो अज्ञानी हैं। वे मायान्ध हो रहे हैं। उन्हें अपना अहित सूझता ही नहीं है। आज जो स्थिति है, वह अनेक बार संसारमें आती है। आज दो शब्द बहुत प्रचलित हैं-प्रगतिवाद और प्रतिक्रियावाद। इनका अर्थ क्या है?

क्रियाका अर्थ है—क्लबोंमें जाना, खान-पानकी कोई मर्यादा न मानना। स्वच्छन्द आहार और स्त्री-पुरुषका स्वच्छन्द मिलन तथा स्वच्छंद आचरण। चाहे जैसे प्राप्त हो, धनोपार्जन। किसी भी मर्यादाको न मानना और चाहे जिसे व्यंग, कटूक्तिका लक्ष्य बना लेना। वेशमें, भोजनमें आचरणमें-सर्वत्र मनमाना ही व्यवहार नहीं, समाजकी मर्यादाओंको तोड़कर व्यवहार करना ।

इस प्रकारके जीवनवाला व्यक्ति ऐसा समाज, ऐसा साहित्य आज क्रियावान होनेसे प्रगतिवादी माना जाता है। उच्छृंखलता, असंयम, अनाचारकी ओर जिसकी जितनी गति हो, वह उतना प्रगतिशील। यह क्रिया यह प्रगति जहाँ-जिसमें न हो और जो इसका विरोधी हो, जो सदाचारी संयम, सत्य, स्वच्छ-पवित्र आहार, मर्यादापालनकी बात कहे-करे, वह प्रतिक्रियावादी।

ऐसी प्रगतिशीलता संसारमें बार-बार आती है। असुरोंका प्राबल्य जब-जब हुआ-तो उन्होंने बलपूर्वक लोगोंको प्रगतिशील बना दिया और प्रक्रियावादियोंको नष्ट करनेमें कुछ कसर नहीं छोड़ा। आजके प्रगतिशील भी वही करना चाहते हैं तो कुछ आश्चर्यकी बात नहीं है।

अज्ञानवश जीव तो पतन एवं विनाशके महागर्तकी ओर दौड़नेको प्रगति माने बैठे हैं। अपने पतनके कार्योंमें ही उनकी गौरव-वृद्धि हो गयी है। वे देख ही नहीं पा रहे हैं कि वे जो कुछ कर रहे हैं, उससे उनके स्वयंके लिए दुःखोंकी अपार राशि बढ़ती ही जा रही है। दूसरी ओर भगवान्‌ने नियम बना रखा है कि वे मनुष्यके कर्ममें हस्तक्षेप नहीं करेंगे। वे केवल उसकी रक्षा करेंगे-उसे प्रेरणा देकर या बलात् सुपथपर-अपनी ओर लावेंगे, जो उनकी शरण आवेगा और उनसे ऐसी अपेक्षा करेगा। जो उनसे ऐसी अपेक्षा नहीं करता, वह अपना कर्मफल भोगे। ऐसी अवस्थामें अज्ञानी प्राणियोंका उद्धार कैसे हो?

भगवान् दयाके अनन्त सागर हैं। वे कोई नियम अपना बना लें; किन्तु जीवोंका उत्पथगामी होकर दुःखोंके दावानलमें दग्ध होते रहना उनसे देखा नहीं जाता। अतः वे जीवोंका पथप्रदर्शन करनेके लिए समय-समयपर अपने निज जनोंको इस लोकमें भेजते रहते हैं।

भगवान्‌की इच्छासे, उनके भेजे हुए भगवान्‌के निज-जन संसारमें भगवत्कार्य सम्पन्न करनेके लिए जन्म लेते हैं। वे न कर्मपरतन्त्र जन्म लेते और न उनका कोई प्रारब्ध होता। जीवनमें न उन्हें कोई प्रारब्धका भोग प्राप्त होना रहता और न किसी कर्मका पाप-पुण्य ही उन्हें होता। उनका जीवन जीवोंके कल्याणके लिए होता है। उनके द्वारा जो भी कार्य होते हैं, वे जैसे भी रहते हैं और जो भी सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा, शोक-रोग उनके जीवनमें दीखते हैं, वे सब उनके स्वामी श्रीभगवान्‌की इच्छासे उन्हें प्राप्त होते हैं और इसलिए प्राप्त होते हैं कि उनके सम्पर्कमें आने वाले लोग उससे प्रेरणा ग्रहण करें। उससे कोई न कोई शिक्षा लोगोंको प्राप्त होती है।

जैसे ऐसे लोगोंका जन्म, कर्म-परतंत्र नहीं होता, वैसे ही इनकी आयु भी नहीं होती। इनका देहत्याग तब, जब इनको भेजने वाला चाहे। ये अल्पायु भी दीख सकते हैं और दीर्घायु भी। जिस प्रयोजनसे इन्हें भेजा गया, वह पूरा होनेपर इन्हें विश्व-नियंता अपने समीप बुला लेता है।

कारकपुरुष

सृष्टिमें कुछ पद कारकपुरुषोंके हैं। मनु, इन्द्र, वरुण, यम, कुबेर, अर्यमा, सूर्य, ब्रह्मादि पद कारकपुरुषोंके हैं। इन रूपोंमें भगवदिच्छासे भगवान्‌के द्वारा नियुक्त कर्म-बन्ध-विनिर्मुक्त समर्थ जीव रहते हैं और अपने पदोंके अनुसार व्यवहार करते हुए लोकका संचालन करते हैं। इन कारकोंमें ही ग्राम-देवता, ग्राम-कालिकादि तक आते हैं।

सूफी महात्माओंमें ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक ज़नपदमें किसी न किसी वेशमें एक सिद्ध रहता है। वह उस जनपदके अधिदैविक-संरक्षणके लिए उत्तरदायी है। ऐसे सिद्धके मरनेपर उसका स्थान दूसरा ले लेता है। सामान्य प्रशासनकी भाँति ही यह दैवी प्रशासन भी है। ग्रामके सिद्धोंके ऊपर मंडलका, मंडलोंपर जिलेका, जिलोंपर प्रांतका और प्रांतोंपर देशका अधिकारी है। इसी प्रकार देशोंके अधिकारियोंपर पूरे विश्वका अधिकारी है। उसे संतोंकी भाषामें 'शाहे वक्त' कहते हैं। ये जीवित मनुष्यके रूपमें ही रहने वाले हैं और कारक-पुरुष हैं। अपनेको ये प्रायः गुप्त रखते हैं। इनकी शक्ति और अधिकार अपने पदके अनुसार होता है। इनका उच्चाधिकारी इनका स्थान-परिवर्तन कर सकता है। इन्हें पदच्युत या दण्डित कर सकता है-कर्तव्यमें त्रुटि होनेपर। इनका जन्म भी भगवादिच्छासे ही होता है।

●●

पुनर्जन्म सम्बन्धी कुछ शंकाओंके समाधान

आज तर्कका युग है। बात यहाँ तक ठीक है; किन्तु तर्कके लिए भी एक सीमा-एक आधार और एक औचित्य होता है। जिसने विज्ञानका तनिक भी अध्ययन नहीं किया, वही जब परमाणु-विज्ञानके सम्बन्धमें अटपटे तर्क करके परमाणु-विखण्डनको अशक्य सिद्ध करने लगे तो उसके तर्कको कुतर्क कहा जाता है। किसी वैज्ञानिकके लिए इस प्रकारके कुतर्कोंका उत्तर देना न सम्भव है, न आवश्यक। कुतर्ककी उपेक्षा ही करनी पड़ेगी।

पुनर्जन्म सम्बन्धी घटनाओंको लेकर पिछले कुछ दिनोंसे कई समाचारपत्रोंमें कुछ बातें छपी हैं। कुछ घटनाएँ भी छपी हैं। साथ ही लोगोंने बहुत-से तर्क-कुतर्क किए हैं। कठिनाई यह हो गयी है कि जिन्हें धर्म, धर्मशास्त्र तथा पुनर्जन्म सम्बन्धी देश एवं विदेशोंमें होने वाले शोधके सम्बन्धमें तनिक भी पता नहीं, वे अपनेको इन विषयोंके खण्डनका पूर्ण अधिकारी मान लेते हैं और चुनौतियाँ देने लगते हैं।

अनेक तर्क करने वालोंका मुख्य तर्क है-'पुनर्जन्मकी घटनाएँ छल हैं। बच्चोंके अभिभावकोंने लोगोंको धोखा देकर पैसा कमानेके लिए बच्चोंको सिखा-पढ़ा रखा है।'

अब इस तर्कका क्या उत्तर हो सकता है जब कोई कहे-'मेरे अतिरिक्त सब धूर्त हैं और सब मूर्ख है।'

ऐसे लोगोंने घटनाओंको ठीक पढ़ने तकका कष्ट नहीं किया। अन्यथा उन्हें पता लगता कि बहुतसे स्थानोंपर तो अभिभावक घटनाका विवरण छिपाते रहे हैं। पता लगाने जाने वालोंको अपमान तथा कई बार पीटने तकका ढंग बना है। अनेक घटनाएँ ऐसी हैं जहाँ माता-पिता आदि सम्पन्न हैं। कहीं कोई पैसा या प्रशंसा पाने-मिलनेकी बात ही नहीं है। कई स्थानोंपर पूर्वजन्मकी स्मृति रखने वाले बालक अपने माता-पिताके लिए समस्या बन गए हैं। अभिभावक प्रसन्न होते यदि बालकको पूर्वजन्मकी स्मृति न होती।

झूठी घटनाएँ भी गढ़ी जाती हैं और इसके पीछे पैसा या प्रशंसा पानेका लोभ होता है, यह बात ठीक है। लेकिन देश एवं विदेशोंमें जो संस्थान पुनर्जन्मकी घटनाओंकी खोजमें लगे हैं, उनके कर्मचारी यह बात न जानते हों, ऐसा तो है नहीं। वे बुद्धिमान् लोग हैं और वे खोज करनेमें इतनी अधिक सावधानी रखते हैं कि साधारण व्यक्ति उतनी सावधानीकी बात सोच भी नहीं सकता। अतः जिन घटनाओंको जाँच करके वे सत्य घोषित करते हैं, उनमें सन्देह करनेका कारण ही नहीं है।

'सब घटनाएँ गढ़ी हुई हैं, यह कह देना तो कुतर्कमात्र है। अतः ऐसे लोगोंको समझा पाना सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त कुछ मुख्य शंकाएँ जो पुनर्जन्मके सम्बन्धमें की जाती हैं, उनका उत्तर देनेका प्रयत्न किया जा रहा है।

पुनर्जन्मकी स्मृति किसे?

शंका-पुनर्जन्मकी स्मृति बालकोंको ही क्यों होती है? युवकों तथा वृद्धोंको क्यों नहीं होती?

समाधान—स्मृति कैसे होती है और कब तक रहती है, इस बातको जानना हो तो पहले मनोविज्ञान पढ़ना चाहिए। पहले इस जन्मकी स्मृतियों तथा विस्मृतियोंको समझना चाहिए। जिनका मनोविज्ञानसे तनिक भी परिचय नहीं है, यह शंका उनके ही मनमें उठती है।

एक संस्थाके सम्बन्धमें मुख्य-मुख्य घटनाओंका मैं संस्मरण लिखने बैठा। उन घटनाओंमें उस संस्थाके संस्थापक भी सम्मिलित थे। घटनाएँ कुल बीस वर्ष पुरानी थी। जब संस्मरण लिखकर मैंने संस्थापकको दिखलाया, अनेक स्थानोंपर उन्होंने बतलाया कि 'यह घटना इस प्रकार नहीं है।' अब स्मृति उनकी ठीक या मेरी, कहना कठिन है।

एक अच्छे विद्वान्-प्रसिद्ध महात्मा हैं। आजसे २८-२९ वर्ष पूर्व उनके साथ कुछ ऐसी घटना हुई कि कई दिन उन्होंने अनशन किया। इस अनशनमें मैं सम्मिलित था। उसी समय घटनाका पूरा विवरण मैंने लिखा और वह छप गया। आजसे लगभग ७-८ वर्ष पूर्व मैं उन महात्मासे मिलने गया। उस घटनाकी चर्चा वे करने लगे और उसमें एक बातको लेकर बहुत आग्रह करने लगे-'यह बात ऐसे ही हुई है।' मैंने कई बार कहा-'नहीं- आपको ठीक स्मरण नहीं है।' जब मेरी बात स्वीकार नहीं की गई तो उनके संग्रहमें उस पत्रको ढूँढ़ा गया जिसमें घटनाका विवरण छपा था। संयोगवश वह पत्र मिल गया और सिद्ध हो गया कि मेरी स्मृति ठीक थी ।

इस प्रकारके अनेक अनुभव आपके समीप होंगे। बहुतसे स्वप्न हम सोकर उठते ही भूल जाते हैं। बहुत-सी घटनाएँ हमें महीने-दो महीनेसे अधिक स्मरण नहीं रहतीं। जिन लोगोंके साथ महीनों रहना पड़ा है, उनको भी पहचानना कठिन हो जाता है, यदि वे कई वर्षोंपर मिले हों।

अपने जीवनमें घटी किसी मुख्य घटनाको लीजिए-जिसे दस-पन्द्रह वर्ष बीत चुके हों। उस घटनामें सम्मिलित मुख्य लोगोंसे उसका वर्णन पूछ देखिए। आप देखेंगे कि सबके वर्णनोंमें पर्याप्त अन्तर है और प्रत्येकका आग्रह है कि स्मृति उसीकी ठीक है।

देशमें स्वाधीनता—आन्दोलनके रूपमें क्रांतिकारियोंका संघर्ष पर्याप्त महत्वपूर्ण रहा है। उस संघर्षमें भाग लेने वालोंमें अनेक अभी जीवित हैं। उनमें कईने उस संघर्षकी घटनाओंके वर्णन लिखे हैं। ऐसे वर्णनोंको पढ़कर देखलें कि उन वर्णनोंमें कितना अन्तर मिला है।

इसमें किसीका दोष नहीं है। हमारे मनका स्वभाव है कि वह प्रत्येक घटनाको अपने अनुकूल दृष्टिकोणसे ग्रहण करता है। घटना चाहे जैसी हुई हो-उसमें हम स्वयं और जिनको हम स्वयं चाहते हैं, जिन्हें आदर देते हैं, उनके सम्बन्धमें यदि कोई ऐसी बात हुई है कि उससे उनका या हमारा महत्व घटता है तो वह बातें भूल जायेगी। जिनको हम पसन्द नहीं करते, उनके महत्वको घटाने तथा अपने प्रियोंके महत्वको बढ़ाने वाली बातें केवल स्मरण ही नहीं रहेंगी, ऐसी कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन भी स्वतः स्मृतिमें बन जायेंगे।

हमारा अहंकार, हमारी प्रियता और हमारा द्वेष हमारे अनजाने ही घटनाकी स्मृतिका सम्पादन करता रहता है। उसमें परिवर्तन, परिवर्धन एवं काट-छाँट हो जाती है मस्तिष्कमें अपने आप। फलतः किसी पुरानी घटनाकी स्मृति ज्योंकी त्यों है, यह बात बहुत भरोसा करने योग्य नहीं होती ।

इस जीवनमें ही हमको-आपको अपने शैशवकी, खेल-कूदकी घटनाएँ क्या स्मरण हैं? अपने बचपनके साथियोंको यदि वे जीवनमें मिलते नहीं रहे हैं, अब आप पहचान लेंगे? जब इस जीवनकी ही स्मृतिकी यह दशा है तो पिछले जन्मकी स्मृति न रहे, इसमें आश्चर्य क्या?

घटना जितनी निकट की होती है, स्मृति उतनी स्पष्ट होती है। बच्चा पहले जन्मके अधिक निकट है। आयुके साथ यह कालकी दूरी बढ़ती जाती है। अतः पूर्वजन्मकी स्मृति यदि सहज भावसे सम्भव है तो बच्चेके लिए ही सम्भव है।

शंका—पूर्वजन्मकी स्मृति सबको क्यों नहीं होती?

समाधान—इस जन्ममें क्या सबकी स्मरण-शक्ति समान होती है? क्या आप अपने जीवनकी सभी बातोंको समानरूपसे स्मरण रख पाते हैं?

स्मरण—शक्ति इस जीवनमें ही लोगोंमें अत्यन्त विषम देखी जाती है। किसीको घण्टे भर पहले कही अपनी बात स्मरण नहीं रहती और किन्हीं लोगोंकी स्मृति तो आश्चर्यजनक होती है। अमेरिकामें एक सज्जनको दो-ढाई लाख लोगोंके नाम पते स्मरण हैं। एक व्यक्ति जिस मकान या दुकानमें एक बार प्रवेश

कर जाय, उसमें नेत्रोंके सामने रखी वस्तुओंका विवरण वे घण्टे पीछे सुना दे सकते थे। कुछ लोगोंको पूरे ग्रन्थ कण्ठ होते हैं।

सामान्य नियम यही है कि जब देह परिवर्तित होता है, पिछले देहकी स्मृति नहीं रह जाती। बहुत समय बीता, बहुत परिवर्तन हुए मध्यमें, अतः विस्मृति स्वाभाविक है। हम भी तो पुरानी घटनाएँ भूल जाते हैं। लेकिन कभी-कभी ऐसा होता है कि मरनेके बहुत थोड़े समयमें ही दूसरा मनुष्य जन्म मिल गया। ऐसी अवस्थामें यदि स्मरण-शक्ति भी उत्तम मिल गई तो पूर्वजन्म स्मरण हो आता है।

स्मृतिमें सब घटनाएँ एक समान अंकित नहीं होतीं। जिस घटनाका हमारे मनपर अधिक प्रभाव **पड़ता** है, जिसने हमारे जीवनको बहुत प्रभावित किया है, उसकी स्मृति अधिक **समय** तक हमें रहती है। इसीलिए जीवनके बड़े रोग प्रायः नहीं भूलते। जिन लोगोंकी मृत्यु असाधारण ढंगसे हुई, यदि उन्हें मनुष्य जन्म मिल गया उसके बाद ही और उनकी स्मरण-शक्ति भी अच्छी हुई तो उन्हें पूर्वजन्मकी स्मृति बनी रहती है।

पूर्वजन्मकी स्मृति रहनेके लिए ये बातें आवश्यक हैं—

१. स्मरण-शक्ति उत्तम हो।

२. मनुष्य शरीर छूटकर फिर किन्हीं अन्य योनियोंमें, स्वर्ग-नरकमें न जाना पड़ा हो। पितृलोकमें प्रतीक्षा बहुत न करनी पड़ी हो। शीघ्र ही मनुष्य-योनि मिल गई हो।

३. पिछला मनुष्य-शरीर किन्हीं ऐसी परिस्थितियोंमें छूटा हो कि उन परिस्थितियोंका मनपर गहरा प्रभाव पड़ता हो।

अपवाद रूपही एक-दो घटनाएँ ऐसी मिलेंगी जिनमें किसीको एकाधिक जन्मोंकी स्मृति हो। अथवा उसे मनुष्यजन्मके अतिरिक्त किसी अन्य देहमें भी रहनेकी स्मृति हो।

शंका—क्या मनुष्य मरकर मनुष्य ही होता है? स्त्री मरकर स्त्री और पुरुष मरकर पुरुष ही होता है? ऐसा नहीं है तो पुनर्जन्मकी स्मृति रखने वाले बालक ऐसे ही प्रमाण क्यों देते हैं?

समाधान—जीव न मनुष्य है, न देवता, न पशु-पक्षी आदि। इसी प्रकार जीव न स्त्री है न पुरुष। अपने कर्मानुसार वह मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़ा या

देवता का जन्म तथा उन जन्मोंमें स्त्री या पुरुषका शरीर पाता है। केवल स्थूल शरीर ही स्त्री-पुरुष या मनुष्य-पशु आदि होता है। सूक्ष्म-शरीरमें ये भेद नहीं होते।

पूर्वजन्म होता है अपनी-अपनी आसक्तिके कारण। जन्मका हेतु हमारा राग-द्वेष है। पुरुषका राग पुरुष देहमें और स्त्रीका राग स्त्री देहमें हो, यह सामान्य रूपसे स्वाभाविक स्थिति है। पतिव्रता स्त्री तो पतिमें इतनी आसक्त होती है कि जन्म-जन्ममें उसीको और पतिरूपमें ही पाना चाहती है। इसलिए सामान्य रूपसे पुरुषको पुरुषका तथा स्त्रीको स्त्रीका जन्म मिले यही सम्भावना अधिक है। लेकिन ऐसा कोई नियम नहीं है। पुरुष कोई-कोई ऐसे भी मिलते हैं जिन्हें स्त्रीकी वेश-भूषामें रहना प्रिय लगता है। पुरुष-वेश एवं देह पसन्द करने वाली स्त्रियाँ भी होती हैं। फलतः स्त्रीका जन्म पुरुष रूपमें और पुरुषका जन्म स्त्री रूपमें होना सर्वथा सम्भव है। श्रीमद्भागवतमें पुरञ्जनोपाख्यानमें ऐसा ही वर्णन है। ऐसी घटनाएँ एक-दो पूर्व-जन्मकी स्मृति रखने वाले बालकोंमें भी ढूँढ़नेपर मिल जाती हैं।

सबसे बड़ी बात यह है कि जब इसी जीवनमें स्त्रीके पुरुष तथा पुरुषके स्त्री बन जानेकी घटनाएँ समाचार पत्रोंमें देखनेमें आती हैं तो यह कैसे माना जा सकता है कि जन्मान्तरमें ये परिवर्तन नहीं होंगे।

एकाध घटनाएँ ऐसी भी मिली हैं, जिनमें किसी बच्चेको अपने कई पूर्वजन्मोंका स्मरण रहा है और उनमें-से किसी जन्ममें वह किसी पशु-योनिमें था। जड़-भरतकी कथा प्रसिद्ध ही है। राजा भरत मरकर मृग हुए और मृग मरा तो ब्राह्मण-पुत्रके रूपमें जन्मा। लेकिन ऐसी घटनाएँ अत्यल्प ही रहेगी। क्योंकि पशु-पक्षी शरीरमें स्मृतिका विकास बहुत कम रहता है। इन शरीरोंसे जो मनुष्य शरीरमें आवेगा, उसे पूर्वजन्मका स्मरण बना रहे, इसकी सम्भावना बहुत ही कम है।

किसी बातका स्मरण रहनेके लिए कालकी सीमाका छोटा होना आवश्यक है। स्मृतिके लिए कालकी सीमा है। घटना जितनी महत्वपूर्ण होगी, उसके स्मरणका काल उतना दीर्घ होगा। फिर यह भी कि स्मरण करने वाले मस्तिष्ककी क्षमता कितनी है। एक ही घटना एकको दो महीने भी स्मरण नहीं रहती, दूसरेको दो वर्ष स्मरण रहती है।

जीव एक देहको छोड़कर दूसरे पृथ्वी परके देहमें आ जाय तो भी कुछ नहीं

बनता। वह मनुष्य देहमें ही आया हो, तभी उसे पूर्वजन्मकी स्मृति रह सकती है। जो मानव शिशुजन्म लेते हैं-उनमें कोई स्वर्गसे आया है, कोई नरकसे, कोई दीर्घकाल तक पितृलोकमें बना रहा है। कोई पशु-पक्षी आदि योनियोंसे आया है। इनमें भी पूर्व शरीरके त्यागके समय कोई महत्वकी घटना सबके साथ होना अनिवार्य तो है नहीं। विशेष स्मरण-शक्ति रखने वाले मस्तिष्क भी थोड़े ही होते हैं। अतः पुनर्जन्मका स्मरण रखने वाले बालकोंका वर्णन लेकर उसपर से यह निर्णय करना कि जीवका किन-किन योनियोंमें, किन-किन रूपोंमें जन्म होता है, या हो सकता है—ठीक मार्ग नहीं है। ये प्रमाण सदा ही अपूर्ण रहेंगे। इनसे पुनर्जन्म होता है, केवल यह सिद्ध होता है। उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया तो शास्त्रमें ही मिलेगी ।

प्रश्न—ऐसा क्यों होता है कि पूर्वजन्मकी स्मृति रखने वाला बालक अपना पहला जन्म अपने देश-प्रान्तमें आस-पास ही बतलाता है? भारतका कोई अमेरिकामें और अफ्रीकाका कोई भारतमें क्यों उत्पन्न नहीं होता?

समाधान-ध्यानसे पुनर्जन्म सम्बन्धी घटनाओंके विवरण एकत्र करके आप देखें तो अन्य देशमें पुनर्जन्म होनेकी घटनाएँ भी आपको मिल जायेंगी; किन्तु ऐसी घटनाएँ बहुत कम है; क्योंकि ऐसा होनेकी सम्भावनाएँ बहुत कम हैं। अवश्य ही अब संसार आवागमनके साधनोंका विकास होनेसे छोटा होता जा रहा है। अतः सम्भव है एकशती पीछे ऐसी घटनाएँ अधिक उपलब्ध होने लगें।

भारतकी अपेक्षा अमेरिकामें ऐसे लोग अधिक हैं, जिन्होंने विदेश यात्रा की है। लेकिन वहाँके ऐसे लोगोंमें भी उनकी संख्या लाखोंमें नहीं आवेगी, जिन्होंने विदेशकी यात्रा करके, अपने देशसे-अपने रहन-सहन, अपने स्वजन-सम्बन्धी लोगोंके समान ही कोई सम्बन्ध अन्य देशमें बना लिया हो। भारतमें तो ऐसे लोगोंकी संख्या बहुत ही कम निकलेगी।

जीवका जन्म अपने कर्म-फल भोगनेके लिए होता है और अपने राग-द्वेष अनुसार होता है। जन्म होता है अपने कर्म-संस्कारके अनुसार और हमारे संस्कार बनते हैं हमारे समाज तथा हमारे आस-पासके वातावरणके अनुसार हमारा राग-द्वेष भी अपने आस-पास ही प्रायः अधिक होता है। अतः यदि किसी जीवको मनुष्य योनि मिलनी है तो यही स्वाभाविक है कि वह अपने पूर्व-जन्मके देश, समाजमें ही जन्म पावे; क्योंकि उसके संस्कारोंके अनुसार फल-भोग प्राप्त करनेकी स्थिति तो उसे वहीं उपलब्ध हो सकती है।

एक अमेरिकनके जैसे संस्कार हैं, जैसी आसक्ति है, मरनेपर यदि उसका जन्म भारत या अफ्रीकामें हो तो कैसे उसके संस्कारोंकी सफलता होगी। यह तो अपवादके रूपमें ही सम्भव है, जब किसी अमेरिकनके मनमें भारतीय रहन-सहन, भारतीय संस्कृतिसे बहुत आसक्ति हो। एक भारतीय पूजा-पाठ करनेवाला ब्राह्मण यदि अफ्रीकाके वनमें उत्पन्न हो जाय; अथवा एक वनवासी अफ्रीकन भारतीय घरमें उत्पन्न हो जाय-पहले तो उत्पन्न हो जाय? क्या आसक्ति, कौनसे राग-द्वेष, किन संस्कारोंका फलभोग ऐसा जन्म दे? जन्म हो जाय तो उनके पूर्वजन्मके कर्म-संस्कार, आसक्ति आदिकी सफलता कैसे सम्भव है?

इसलिए यह समझना चाहिए कि पुनर्जन्म किसीका कहीं यों ही नहीं हो जाता। एक जीवको चाहे जहाँ जन्म दे देना कर्म-नियन्ताके लिए भी सम्भव नहीं है। जीवका जन्म कर्मानुसार होता है। कर्म अपने देश, समाज एवं वातावरणके अनुसार होते हैं और वहीं ऐसे लोग होते हैं, जिनका उन कर्मोंसे सम्बन्ध है। अतएव उस जीवको उसी वातावरणमें जन्म मिले, बहुत अधिक सम्भावना इसी बातकी है।

शंका—पूर्वजन्मकी स्मृति भूल क्यों जाती है?

समाधान—इस जन्मकी घटनाएँ आप क्यों भूल जाते हैं? भूलना स्वाभाविक है। मस्तिष्कके स्मरण रखनेकी एक सीमा होती है। भले किसीकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त विशाल हो; किन्तु उसकी स्मरण-शक्ति भी एक सीमा रखती है। आप स्तुतियाँ, पद्य आदि कण्ठस्थ करना प्रारम्भ कीजिये। आप पावेंगे कि एक सीमापर आकर आप नवीन पद्यादिको कण्ठस्थ कर लेते हैं; किन्तु पिछले भूलते जा रहे हैं। जैसे-जैसे आप नवीन कण्ठस्थ करें, पिछले अवश्य उसी क्रमसे भूलेंगे।

एक बालकको बहुत कुछ इस जीवनमें स्मरण रखना पड़ता है। उसे प्रत्येक पदार्थका रूप और नाम स्मरण रखना है। अपने सम्बन्ध स्मरण रखने हैं। अपनी पढ़ाईके विषय स्मरण रखते हैं। संसारके ये नवीन विषय नित्य नवीन होते रहते हैं। जैसे एक मित्र नित्य मिलते हैं और एक नहीं मिलते। कुछ वर्षोंमें न मिलने वाले मित्रका रूप, गुण, घटनाएँ और बहुत दिन बीतें तो नाम भी हम भूल जाते हैं। यही बात पूर्वजन्मकी स्मृति रखने वाले बालकोंके साथ है। पहले जन्मकी घटनाएँ सामने तो हैं नहीं। जैसे-जैसे जीव नवीन सीखता जाता है, नवीनमें उसकी आसक्ति होती जाती है, वैसे-वैसे उसे पूर्वजन्म सम्बन्धी विस्मृति होती जाती है।

'अपरिग्रहस्थैर्य पूर्वकथासम्बोधः।'

–*योगदर्शन*

इसी जीवनमें बड़ी आयुमें भी किसीका अपरिग्रह स्थिर हो जाय, किसी पदार्थमें उसकी आसक्ति न रहनेसे लौकिक पदार्थोंको स्मरण रखना अनावश्यक बन जाय तो उसे अपने एक ही नहीं, अनेक पूर्वजन्मोंकी स्मृति प्राप्त हो जायेगी। ऐसे जातिस्मर लोगोंके वर्णन पुराणोंमें बहुत हैं। यदा-कदा लोकमें भी ऐसे लोग पाये ही जाते हैं।

●●

परलोक और मोक्ष

'लोकाः कर्मविनिर्मिताः।'

जितने लोक हैं, उन सबका निर्माण कर्मके द्वारा होता है। पूर्व मीमांसाके ग्रन्थोंमें कर्म तथा कर्म-फलकी पद्धतिपर सूक्ष्म विचार किया गया है। हम आप सब जितने कर्म करते हैं, उनको दो मुख्य भागोंमें बाँटा जा सकता है। १-व्यक्तिगत (निजी) कर्म और २-समष्टिगत (सामूहिक) कर्म।

प्रायः जब लोग कर्म या प्रारब्धकी बात करते हैं, तब केवल निजी कर्मोंकी ओर उनका ध्यान रहता है। वे सामूहिक कर्मोंको और उससे बने समष्टि प्रारब्धको भूल ही जाते हैं। हम लोग कुछ काम ऐसे करते हैं, जो हमारे अपने जीवनसे ही सम्बन्ध रखता है। जैसे आप किसी भिखारीको पाँच पैसे दान कर देते हैं अथवा किसीको गाली देते हैं। दूसरे कर्म ऐसे हैं जो हम दूसरोंके साथ मिलकर करते हैं। जैसे बड़े-बड़े यज्ञ, अकाल-सहायता अथवा दंगे आदि। यहाँ स्मरण रखने योग्य है कि कोई भी कर्म सर्वथा व्यक्तिगत नहीं होता। आप एक धूपबत्ती जलाते हैं अथवा मनमें एक विचार करते हैं तो भी उसका प्रभाव विश्वके वातावरणपर पड़ता है।

जैसे व्यक्तिगत कर्मोंके फलसे व्यक्तिगत प्रारब्ध बनता है और उसके द्वारा व्यक्तिके जीवनका सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश, जन्म-मृत्यु नियन्त्रित है, उसी प्रकार मनुष्योंके ही समष्टिगत कर्मोंसे यह पूरी सृष्टि बनी है।

पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, तारे, समुद्र, पर्वत, नदियाँ आदि समष्टि प्रारब्धसे वैसी ही बनी हैं, जैसे व्यष्टि प्रारब्धसे यह शरीर उत्पन्न हुआ है। जैसे व्यष्टि प्रारब्धसे जीवनमें सुख-दुःख, रोगादि आते हैं, वैसे ही समष्टि प्रारब्धसे ऋतुएँ बदलती हैं, वृष्टि होती है। रोग महामारी, अकाल, भूकम्प, महायुद्ध, युग परिवर्तनादि समष्टि प्रारब्धके परिणाम हैं।

यह बात केवल पृथ्वीके लिए नहीं है। स्वर्ग-नरकादि जितने लोक हैं-वे सबके सब कर्मके द्वारा ही निर्मित हैं। पृथ्वी तथा ग्रह-नक्षत्रादि स्थूल लोक हैं। जब लोग पूछते हैं-'स्वर्ग कहाँ?' अथवा 'चन्द्रमामें राकेटसे मनुष्य पहुँच जायगा तो वहाँके पितरोंका क्या होगा?' तब वे यह मानकर पूछते हैं कि हमारी इस पृथ्वीके समान स्वर्ग भी कहीं किसी आकाशीय पिण्डपर होगा। इसलिए शास्त्रकी भाषामें पृथ्वी किसे कहते हैं, यह जान लीजिए।

'उक्तस्त्वया भूमण्डलायामविशेषो यावदादित्यस्तपति यत्र चासौ ज्योतिषां गणैश्चन्द्रमा वा सह दृश्यते।'

-भागवत ५/१६/१

महाराज परीक्षित शुकदेवजीसे कह रहे हैं-'आपने यह बतलाया है कि जहाँ तक सूर्यका प्रकाश जाता है अथवा जहाँ तक चन्द्रमा अथवा तारागण दीखते हैं यह सब भूमण्डलके समान (अवशेष) ही है।'

अतः जहाँ तक पार्थिव तत्व हैं—वह सब पृथ्वी है। इन ग्रहोंमें आप स्वर्ग नरक मत ढूँढिये। यदि किन्हीं ग्रहोंमें प्राणी हुए भी तो वे पार्थिव प्राणी ही होंगे। स्वर्ग-नरक अथवा पितृलोक सूक्ष्म लोक है। उनमें जो प्राणी रहते हैं, वे स्वयं इच्छा करके कुछ स्थूलाकार न बनावें तो पार्थिव प्राणियोंके लिए वे अदृश्य होते हैं। जैसे जलकी वाष्प अदृश्य होती है। जब वाष्प रूपमें स्थिति जलके कण आकाशमें उड़ते धूलिके कणोंपर जमने लगते हैं, वाष्प सघन होती है, तब वह हमें कुहरे या मेघके रूपमें दिखलायी पड़ती है।

'स्वप्नोपमममुं लोकमसन्तं श्रवणप्रियम्।'

(भागवत-११/२१/३१)

स्वर्गादि लोक सूक्ष्म होनेके कारण उस प्रकार स्थिर एवं एक रूप नहीं हैं, जैसे हमारा यह भौतिक संसार है। सूक्ष्म वस्तुका रूप इस प्रकार नहीं होता। वाष्प या मेघ कब कैसे आकार बदलेंगे इसका क्या ठिकाना। इसी प्रकार देवता तथा

क्षरसे-क्षेत्रसे अर्थात् स्थूल जगतसे और सूक्ष्म शरीर तथा उसमें स्थित संघातज चेतनासे तो वह अतीत-असंस्पृष्ट है; किन्तु अक्षरसे-क्षेत्रज्ञसे अतीत नहीं है। उससे असंस्पृष्ट नहीं है। उस क्षेत्रज्ञ पुरुषसे वह उत्तम है। क्षेत्रज्ञकी सम्पूर्ण रक्षा-भरण करने वाला, क्षेत्रज्ञ पुरुषका नित्य सखा है वह पुरुषोत्तम। जो उस पुरुषोत्तमको जान लेता है, वह उसका भजन करता ही है और यह भजन उसे आवागमनसे मुक्त कर देता है।

●●

सिद्धिका तत्व

'कायेन्द्रियसिद्धिरः शुद्धिक्षयात्तपसः।'

-योगदर्शन

शरीर और इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सिद्धियाँ तपस्यासे प्राप्त होती हैं; क्योंकि तपस्यासे शरीर एवं इन्द्रियोंकी अशुद्धि नष्ट हो जाती है।

आजके विज्ञानके लिए सिद्धियोंको समझना कठिन ही नहीं, असम्भव है। पिछले दिनों एक योगीने पानीपर चलनेका बम्बईमें प्रदर्शन करना चाहा और वे असफल हुए। इसको लेकर पत्र-पत्रिकाओंमें जो कुछ निकला, उससे आजके विद्वद्वर्गका मनोभाव समझा जा सकता है। एक विद्वानने यह हिसाब दिया था कि मनुष्यके शरीरके घनत्वका भार और उस शरीरके नीचे पहले पड़ने वाले जलके घनत्वका भार कितना है। उनका कहना था कि 'खड़े मनुष्यके पैरोंके नीचे जलका भार थोड़ा है और शरीरका भार बहुत है, अतः शरीरका जलमें डूबना निश्चित है।'

जहाँ तक पदार्थ-विज्ञानकी बात है, उन विद्वानका मत सर्वथा संतुलित है; किन्तु इस तर्कसे मनुष्यका बिना यन्त्रकी सहायताके आकाशमार्गसे चलना तो और अधिक अशक्य है। इसी प्रकार अणिमा, महिमा, लघिमा या गरिमा जैसी सिद्धियोंको विज्ञान कोरी गप्पबाजी कहेगा; क्योंकि शरीरकी अस्थियाँ वर्तमान शरीर-विज्ञानके अनुसार घटने-बढ़ने वाली नहीं हैं। साथ ही शरीरके वजनको कम-से-कम अस्थियोंके वजन तक तो रहना ही होगा। उससे कम नहीं किया जा

'स्वप्नोपमममुं लोकं'—ये लोक स्वप्नके समान हैं। अन्तर केवल यह है कि स्वप्नका कोई लोक नहीं होता; किन्तु ये लोक हैं। इनमें यह विशेषता है कि इनका दृश्य, इनके अनुभव सबको अपनी-अपनी रुचि एवं योग्यताके अनुसार होते हैं। जैसे एक ही यमराज पापीको काले, रक्तनेत्र, भयंकर दाढ़ वाले, दण्डहस्त दीखते हैं और पुण्यात्माको वही सौम्य, सुन्दर, आभरणभूषित दीखते हैं। विश्वके स्रष्टा मायापति हैं-उनकी मायाका सम्मोहन ही यह है कि एक ही पदार्थ एक ही लोक अनेक लोगोंको अनेक रूपोंमें अनुभूत होता है।

ये कर्मसे निर्मित लोक हैं। जिसने जैसा पुण्य किया, उसके लिए वैसा निर्माण है उन लोकोंमें। राजा नृग मरकर जब स्वर्ग पहुँचे तो उनसे कहा गया—

'नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वतः॥'

(भागवत-१०/६४/२३)

'आपके दान और धर्माचरणका अन्त नहीं था, अतः उनसे बने आपके प्रकाशमय इन लोकोंका भी अन्त मुझे दीख नहीं पड़ता है।'

अन्त दीख भले न पड़े-है अवश्य; क्योंकि क्रियाका वेग जिसका निर्माण करेगा, वेग समाप्त होनेपर वह निर्माण भी समाप्त ही होगा। आपने जिस वेगसे आकाशमें पत्थर फेंका, वह वेग जब समाप्त होगा तो पत्थर गिर जायेगा। इसी प्रकार कर्ममें जो शक्ति थी, उस शक्तिसे जो कुछ बना-कर्मशक्ति नष्ट होनेपर वह नष्ट होकर रहेगा।

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।'

(गीता ९/२१)

पुण्य समाप्त होनेपर ये दिव्यलोक भी अदृश्य। फिर तो जीवको पृथ्वीपर जन्म लेना ही है। अतः मनुष्य जन्म पाकर प्रयत्न करना चाहिए इस जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा पानेके लिए। छुटकारा अर्थात् मोक्ष।

मोक्ष कैसे?

मोक्ष समझनेके लिए किसी मुक्तका स्वरूप समझना अधिक उत्तम है। नित्य मुक्त है ईश्वर। योग-दर्शनने ईश्वरका स्वरूप बतलाया—

'क्लेशकर्मविपाकैरपरामृष्टः पुरुषविशेषरीश्वरः।

क्लेश तथा कर्मफल जिसे नहीं छूते ऐसा पुरुष विशेष-पुरुषोत्तम ईश्वर है।

वह सृष्टि, स्थिति, प्रलयका कर्ता, विश्वनियन्ता है; किन्तु कर्मका फल उसे नहीं होता। क्यों नहीं होता? इसलिए कि उसमें क्लेश नहीं है। यह क्लेश क्या?

'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशः पञ्चक्लेशाः।'

अविद्या (अपने वास्तविक स्वरूपका अज्ञान) अस्मिता (अपनेको परिच्छिन्न जीव मानना) राग (देह एवं देहके सम्बन्धियोंमें आसक्ति) द्वेष (देह तथा देहसे सम्बन्धी जनोंके विपरीत जाने वालोंसे) अभिनिवेश (मैं देह हूँ-यह मानना) ये पाँच क्लेश हैं।

इनमें-से अभिनिवेश साधकको विचारके द्वारा मिटाना है। देहमें अभिनिवेश होनेसे राग द्वेषके संस्कार परिच्छिन्नताका भ्रम (अस्मिता) को दृढ़ करते रहते हैं। इस अस्मिताके कारण अपने वास्तविक स्वरूपका बोध नहीं होता।

मोक्षकी कामना करने वाले मुमुक्षुको पहले बन्धनको ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। क्योंकि यदि उसकी समझमें बन्धन नहीं आता है तो कोई भी उसे कल्पित किसी स्थितिको मोक्ष पद बतला कर ठगता रह सकता है। उसे जान लेना चाहिए कि किसी शब्दका श्रवण खुले कान हो या कान बन्द करके, किसी भी रूपका दर्शन खुले नेत्र हो या नेत्र बन्द करके, किसी गन्धका अनुभव, किसी रसका अनुभव, किसी स्पर्शका अनुभव अथवा मनकी किसी अवस्थाविशेषका अनुभव मोक्ष नहीं है। यह बात चाहे जितनी भयानक और कड़वी लगे, यही सत्य है और इस सत्यको पूरा-पूरा मनमें बैठा लेना चाहिए।

मोक्ष वह है जिससे रागद्वेष, अभिविनेश कट जायँ। किसी साधनसे ये कम हों तो वह साधन है। जिससे ये कम न हों, वह असाधन है। यदि किसी अनुभवसे, ये राग-द्वेष मिट गये तो वह अनुभव निश्चय मोक्षद था। यदि उस अनुभवके पश्चात् भी देहाभिमान, नामका मोह, राग द्वेष बने रहें तो अनुभव चाहे जितना विचित्र और महान कहा जाय, वह धोखा था, वह मोक्ष देने वाला नहीं था। उसपर आस्था मत कीजिए।

मोक्ष के मुख्य साधन

मोक्षके स्वरूपकी मान्यता भिन्न-भिन्न होनेके कारण मोक्षके मुख्य साधनोंमें भी कुछ भेद हैं।

१. सबसे मुख्य साधन मोक्षका ज्ञान है। श्रुतिमें आया है—

'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः'

ज्ञानके बिना मुक्ति होती ही नहीं। यहाँ मुक्ति शब्दका अर्थ है निर्वाण प्राप्ति अर्थात् कैवल्यमुक्ति। निर्गुण निर्विशेष ब्रह्मसे एकत्व प्राप्त कर लेना ।

'निर्विणानां ज्ञानयोगो।'

जो संसारके भोगोंसे अतिशय विरक्त हैं और साथ ही बुद्धि-प्रधान हैं, जिनकी बुद्धि प्रखर है, उनके लिए ज्ञानका मार्ग है। अवैराग्यवानके लिए ज्ञान मार्ग नहीं है।

२. 'कर्मयोगस्तु कामिनाम्'

जो सकाम पुरुष हैं, जिनमें वैराग्य नहीं है, उनके लिए निष्काम कर्मयोग उचित मार्ग है। कर्मयोगके अन्तर्गत ही योगके सभी मार्गोंको ले लेना चाहिए; क्योंकि सबमें ही क्रियाकी प्रधानता है।

निष्काम कर्म करनेसे अथवा योगके द्वारा वासना क्षय होकर रागद्वेष आदिकी निवृत्ति हो जाती है। इस मार्गसे अन्तःकरणकी सम्यक् शुद्धि होनेपर ईश्वरकी कृपासे अविद्या-निवृत्ति होती है।

३. 'न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोस्य सिद्धिदः।'

जो बहुत वैराग्यवान भी नहीं है और बहुत संसारासक्त भी नहीं है, उसे भक्तिके द्वारा सफलता मिलती है। सालोक्यादि चतुर्विधमुक्ति भक्ति ग्रन्थोंमें कही गयी हैं।

एक सम्मान्य महात्माका कहना है-'भक्तको मुक्ति नहीं मिलती वह अपने भगवान्के साथ बँधा होता है। भगवान् अवतार लें या उसे भेजें तो उसे जन्म लेना पड़ता है।'

बात ठीक है। भक्तको अपने भगवान्से छुटकारा तो चाहिए ही नहीं। वह तो उनके श्रीचरणोंके साथ बँधा ही रहना चाहता है। कर्मके संस्कारोंसे विवश होकर उसका जन्म-मरण होना नहीं है और भगवान् भेजें तो उसे नरकमें रहनेमें भी कोई आपत्ति है नहीं। कर्म-संस्कारसे विवश होकर जन्म लेना पड़े, बन्धन तो यही है। इस बन्धनसे भक्तकी मुक्ति हो जाती है, यह बात शास्त्र तथा संत सब मानते हैं।

मोक्षके गौण साधन

ज्ञान, कर्मयोग और भक्ति ये मोक्षके मुख्य साधन हैं। इसके अतिरिक्त शास्त्रोंमें मोक्षके कुछ अन्य साधन भी बतलाये गये हैं। उनपर दृष्टि डाल लेना अच्छा है।

(१) देशके द्वारा मुक्ति—जैसे 'काश्यां मरणान्मुक्तिः।' काशी, अयोध्या, वृन्दावन आदि पवित्र क्षेत्रोंमें मरनेसे मुक्तिका वर्णन पुराणोंमें पर्याप्त है। काशीमें मरने वालेको यदि वह पापी है तो कालभैरव 'भैरवीयातना' देकर शुद्ध कर देते हैं। भगवान् शंकर उस मरणासन्न जीवको तारकमन्त्रका उपदेश करके मुक्त कर देते हैं।

अन्य क्षेत्रोंमें उनके अधिष्ठाता देवताकी कृपा मरने वाले जीवको प्राप्त होती है। उसके फलस्वरूप उसे दूसरे जन्ममें सत्संग तथा साधन-भजनका अवसर मिलता है। इस प्रकार ये क्षेत्र-तीर्थ क्रम मुक्तिके कारण बनते हैं ।

(२) कालके द्वारा मुक्ति—जैसे एकादशीमें मरनेसे मुक्तिका वर्णन है। यहाँ यह जानना चाहिए कि देशके समान कालमें भी पवित्र-अपवित्र काल होता है। काल-विशेषके अधिदेवता होते हैं। अतः वे यदि अनुकूल हों तो जीवको अगले जन्ममें मुक्तिके साधनमें लगा दे सकते हैं। इसलिए काल-क्रम मुक्तिमें कारण हो सकता है।

(३) वस्तुके द्वारा मुक्ति—जैसे शिवलिंग अथवा शालिग्राम शिलाके सान्निध्यमें मरणसे मुक्तिका वर्णन है। मरनेवालेको गंगाजल इसी आशामें दिया जाता है कि उसकी सद्गति हो। इन पदार्थोंके अधिदेवता उसे क्रममुक्तिके मार्गमें लगनेका अवसर दे देते हैं।

(४) शब्दसे मुक्ति—जैसे 'नारायण' शब्द पुत्रको पुकारनेके लिए अजामिलने लिया; किन्तु यह भगवन्नाम था, इसलिए उसको मुक्ति हो गयी। भगवन्नाममें दिव्य शक्ति है। भगवन्नाम साक्षात् भगवान् हैं। अतः मृत्युके समय किसी प्रकार किसी भावसे भगवन्नाम लिया जाय तो वह मोक्षदाता बन जाता है।

ये चारों प्रकार पराश्रित हैं। जैसे स्थूल शरीरकी मृत्यु शरीरगत चेष्टा तथा रोगसे ही नहीं होती, दूसरे सबल समर्थ भी किसीको मार दे सकते हैं; वैसे ही सूक्ष्म-शरीर एवं कारण-शरीरकी मृत्यु-इनका भंग अर्थात् मोक्ष भी केवल

अपने ही प्रयत्नोंसे होता है, ऐसी कोई बात नहीं है। सर्वसमर्थ भगवान् दया करके निमित्त विशेषसे भी किसी जीवको मुक्त कर दे सकते हैं।

स्वाश्रित मोक्षके साधन भी कुछ हैं और ये पराश्रित साधनोंकी अपेक्षा अधिक सरल हैं। क्योंकि ये अपने द्वारा किये जाने वाले हैं।

(५) मनके भावसे मुक्ति—इसमें कोई विवाद नहीं कि मनमें कौन-सा भाव हो। वह राग हो या द्वेष हो, काम हो या क्रोध हो, घृणा हो या ईर्ष्या हो; किन्तु हो दृढ़ और हो भगवान्‌के प्रति। भगवान् किसी भावसे मनमें आवें, जीवको भगवत्प्राप्ति ही होगी। रावण, कंस, शिशुपालादि के उदाहरण इस सम्बन्धमें पुराणोंमें पर्याप्त हैं। भगवान्‌का रूप, लीला, गुण कुछ भी मनमें आवे-भले कल्पित रूपमें आवे, वह यदि मरनेके समय आया है तो भगवत्प्राप्ति सुनिश्चित है।

(६) बौद्धिक चिन्तनसे मुक्ति—निर्गुण ब्रह्मवादी भी अहंग्रहोपासनासे विदेहमुक्ति मानते हैं। बुद्धिमें यह विचार स्थिर हो गया 'अहं ब्रह्मास्मि' और मरते समय ऐसी बुद्धि बनी रही तो मोक्षदायिनी हो जायगी।

(७) अहंकारके द्वारा मुक्ति—पौण्ड्रकका अहंकार ही था कि वह अपनेको वासुदेव समझता था। लेकिन अपनेमें ब्रह्मत्वकी अस्मिता अथवा भगवत्ताकी अस्मिता मरते समय बनी रहेगी तो वह मोक्षदायिनी हो जायेगी ।

(८) कर्मके द्वारा मुक्ति—जैसे धर्मयुद्धमें मारे गये क्षत्रिय अथवा गौ-रक्षाके लिए, ब्राह्मणकी रक्षाके लिए, सन्तोंकी रक्षाके लिए, मन्दिरकी रक्षा के लिए प्राण देने वालोंकी मुक्तिका वर्णन है। भगवद्‌चर्चामें लगे प्राण छूटनेसे मुक्तिका वर्णन है।

(९) आसक्तिके द्वारा मुक्ति—अनासक्त मुक्त होता है, यह आपने बहुत सुना-पढ़ा है अतः आसक्ति मोक्षका साधन है यह पढ़कर चौंकिए मत। पतिव्रता स्त्रीको उसकी पतिमें आसक्ति ही मुक्त करती है या और कुछ? यदि कोई सचमुच मुक्त पुरुष है और उसमें किसीकी आसक्ति है, उस आसक्तिको लेकर ही वह मरता है तो उसका जन्म कहाँ होगा? वह तो निश्चित रूपसे मुक्त होगा।

यहाँ जो पाँचसे नौ तकके स्वाश्रित साधन हैं, इनके सम्बन्धमें कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। ये सब ऐसे हैं कि इनमें सम्पूर्ण जीवनके पाप-पुण्यादि समस्त कर्मोंकी उपेक्षा कर दी गयी है। केवल मृत्युके समयकी

स्थितिके कारण ही उस प्राणिका मोक्ष कहा गया है। इनमें कमसे-कम नवां तो ऐसा है कि वह जीवन कैसा रहा, इसकी कोई अपेक्षा ही नहीं रखता। मनकी आसक्ति किसीमें हो, इसका जीवनका आचरण कैसा हो, इससे बहुत कम सम्बन्ध है। प्रत्येक माताकी आसक्ति अपने पुत्रमें होती है। इसी प्रकार कुपुरुषकी आसक्ति भी किसी सच्चे महापुरुषमें मरणके समय बनी रहे; यह सहज सम्भव है। अतः उसकी मुक्ति कैसे होती है और उसके कर्मोंका क्या होता है यह बात समझ लेने योग्य है।

मरनेके पश्चात् पुनर्जन्म कैसे होता है, इसका विस्तृत विवेचन अन्यत्र है। यहाँ इतना ही समझ लेना चाहिए कि मनुष्यके मरते समय उसके चित्तमें जो अन्तिम भाव आया, वह मानसिक भावरूप हो, बौद्धिक रूप हो या अहंकारात्मक हो, सबसे पहले कर्म-नियन्ताको उस भावको सार्थक करना है। उस भावके अनुसार गति यह पहली बात, उस प्राणीके जीवनके कर्मपर विचार इसके पश्चात्। गीतामें भगवान्ने यह तथ्य स्पष्ट किया है कि मरते समय जो-जो भाव लेकर मनुष्य मरता है, उसके अनुसार ही गति पाता है।

शास्त्रकारोंने पुरुषसे अपेक्षा की है कि वह साधन-भजन करेगा ही। पुरुष में पुरुषत्व-सूक्ष्मता प्रधान है। अतः उसे वैराग्यवान् होकर भजन करना चाहिए। स्त्री राग प्रधान है। पुरुष परमार्थ-पथपर गया तो नारी उसमें आसक्त होकर स्वतः वहाँ जायेगी जहाँ उसका पति गया। इसलिए नारीके लिए पतिव्रत ही मुख्य साधन है। लेकिन आज पुरुष कुपथगामी हो गया, नारीको उसके प्रति कर्तव्य मात्रका निर्वाह करके स्वयं भगवान्में चित्त लगाना चाहिए। कुपथगामी पुरुषमें आसक्ति उसका उद्धार कर नहीं सकती।

चित्त भगवान्में अथवा किसी सच्चे मुक्त-पुरुषमें आसक्ति लिये है और देह छूट गया। नियमानुसार चित्तका जो अन्तिम भाव था, उसके अनुसार कर्म-नियन्ताको गति देनी चाहिए। लेकिन न भगवान् कर्म-नियन्ताके क्षेत्रमें हैं, न मुक्त-पुरुष ही उसके क्षेत्र में रहा। अब कर्म-नियन्ता क्या करे? मनमें आसक्ति, राग-द्वेषादि किसी भावसे भगवान् थे, तब तो भगवत्पार्षद उस जीवको अपने लोक ले जायेंगे। मनमें किसी सच्चे भगवद्-भक्तके प्रति आसक्ति थी मरते समय तो भी यही होना है; क्योंकि—

'भगति भगत भगवंत गुरु चतुर नाम वपु एक।'

अब मान लीजिए कि किसी निर्गुणाश्रयी ज्ञानी महापुरुषमें आसक्ति लेकर

कोई मरा तो क्या होगा? अपने कर्मानुसार एक बार तो वह यमलोक स्वर्ग या ब्रह्मलोक जा सकता है। मनमें वासना हो तो वहाँके भोग पा सकता है; किन्तु जन्म देनेके लिए जो मूलाधार मरणका अन्तिम संस्कार है, वह तो उसका जन्म देनेके अनुरूप है ही नहीं। इस अवस्थामें यमलोकमें हुआ तो यमराज, स्वर्गमें इन्द्र, ब्रह्मलोकमें उसे ब्रह्मा ज्ञानोपदेश करके मुक्त कर देंगे। यमराज, इन्द्र, ब्रह्मा ये ज्ञानी कारक-पुरुष इन स्थानोंमें विश्वके सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान नियन्ताने इसीलिए रख छोड़े हैं।

इस प्रकार जो जीव मुक्त हैं, उनके शुभाशुभ कर्मोंका क्या होता है? क्योंकि जीवनमें ज्ञान होकर उनके कर्मोंका नाश तो हुआ नहीं था। कर्म-संस्कारोंका क्षय या तो भोग कर होता है अथवा ज्ञानाग्नि उन्हें भस्म करती है। तीसरी कोई रीति तो उनके नष्ट होनेकी है नहीं। इस सम्बन्धमें भगवान व्यासने बतलाया-

'तस्य पुत्राः दायिनो भवन्ति।'

जब पिता सम्पत्ति और ऋण छोड़कर मरता है तो क्या होता है? उसके पुत्रोंको सम्पत्ति और ऋण दोनोंमें भाग मिलता है। इसी प्रकार जो जीव अपने कर्मसंस्कारोंको भस्म किये बिना किन्हीं संयोगोंके कारण मुक्त हो जाता है, उसके कर्मोंका कर्मनियन्ता बँटवारा कर देता है। जीवन-कालमें जिन लोगोंने उसकी सेवा की, प्रशंसा की, उनको उसके शुभकर्मोंके संस्कारोंमें भाग मिल जाता है और जिन लोगोंने उसे कष्ट दिया, उसकी निन्दा की उनको उसके अशुभ कर्मोंमें भाग मिलता है। यह भाग उनकी सेवा-स्तुति तथा उत्पीड़न-निन्दाके अनुपातके अनुसार होता है। इस प्रकार उसके कर्मोंका फलभोग उससे सम्बन्धित लोगोंको करना पड़ता है।

●●

भगवान्‌के नित्य लोक और उन सबकी परस्पर समता

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन जान नहिं कोइ।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

(रामचरितमानस-७/७३ख)

आपकी बुद्धि यदि प्रखर है और अन्तःकरण, वासना-मलिन नहीं है—निर्गुणतत्वको बुद्धिगम्य करना कठिन नहीं होगा। अवश्य उस परम सूक्ष्मतत्वको समझनेके लिए सूक्ष्मबुद्धि अपेक्षित है और जब चित्त संसारमें लगा होता है सम्मुख रहते हुए भी परमार्थ वस्तु दीखती नहीं है।

हम आप सब कहते—मानते हैं कि ईश्वर सर्वव्यापक है। इस व्यापकका क्या अर्थ? लोटेके भीतर पानी पूर्णतः व्यापक है तो उसमें क्या कंकड़ हो सकता है? यदि पानी व्यापक भी है और कंकड़ भी है तो कंकड़ बरफसे बना होगा। अन्यथा जितनी दूरीमें कंकड़ होगा, उतनी दूरीमें पानी नहीं होगा। लोहेके गोलेमें अग्निके समान ईश्वर व्यापक हो तो भी लोहेके कण अन्ततः आग्नेय ही सिद्ध होंगे। व्याप्य अपने व्यापकसे भिन्न नहीं हो सकता। ईश्वर सर्वव्यापक हैं, इसका अर्थ ही है कि सब ईश्वर ही हैं। उसको छोड़ कर दूसरी सत्ता नहीं है।

जब सब ईश्वर ही हैं तो उस अद्वितीय तत्वका जब कभी किसीको बोध होगा, 'अहं' के रूपमें ही होगा। क्योंकि 'इदं' या 'त्वं' के रूपमें जब बोध होता है तो जिसे बोध होता है, वह पृथक रह जाता है। अद्वितीय सत्ता तो तभी होगी, जब वह 'इदं' के रूपमें हो।

इतने सीधे रूपमें निर्गुण अद्वितीय तत्व समझा दिया जा सकता है किन्तु सगुण तो अनेक रूप, निखिल दिव्य गुणगणैकधाम है। उसको 'इदमित्थम्' कैसे कहा जा सकता है। उसकी लीलाओंको बुद्धि कैसे समझ सकती है। अब एक लीलाको देखें-मैया यशोदाके सम्मुख उसका कन्हाई भयभीत खड़ा है। नन्हे श्यामका एक हाथ मैयाने पकड़ रखा है और दूसरे हाथसे रोते-रोते वह अपने नेत्र मल रहा है। अंजन कपोलोंपर फैल चुका है। मैया इसे ऊखलसे बाँधना चाहती है। एक रस्सी उठाती है और वह छोटी पड़ती है तो दूसरी रस्सी उसमें

जोड़ती है। लेकिन यह हो क्या रहा है? रस्सियाँ हर बार दो अंगुल छोटी रह जाती हैं। कन्हाईकी दोनों हाथमें आने वाली कटि मोटी नहीं हुई है। उसमें पड़ी मेखला टूटी नहीं है। ऊखल भी बढ़ा नहीं है। रस्सियाँ न उलझी हैं और न छोटी बनी हैं; किन्तु घरकी सब रस्सियाँ जोड़ ली मैयाने और दो अंगुल छोटी पड़नेका क्रम रुका नहीं। अब अघटित घटनापटीयसी मायाके इस कौतुकको बुद्धि सुलझा पावेगी ?

यह विश्व इतने विविध रूपोंमें क्यों दीखता है? तत्व एक है और वह निर्विकार है तो हमारे सम्मुख इतनी विविधता, इतनी विकृतियाँ क्यों हैं? आप कहते हैं-यह अज्ञानसे है। जहाँ तक बुद्धिकी बात है, विचार करने जायेंगे तो एक अद्वितीय निर्गुण तत्व ही प्राप्त होगा। वह बुद्धि-गम्य है और तर्ककी पद्धति ही यह है कि संसारको सिद्ध करनेके लिए तर्कका प्रयोग नहीं करना चाहिए। संसारका भ्रम मिटानेमें बुद्धि लगानी चाहिए। यह एक मार्ग है; किन्तु क्या यह सत्य नहीं है कि अज्ञानमें अनेकत्व उत्पन्न करनेकी शक्ति नहीं है? अन्धकार वस्तुओंको एक रूप बना देता है। प्रकाशमें वस्तुओंका नाना आकार दीखता है। अपठितके लिए सब अक्षर रेखामात्र हैं। जो संगीत जानता है, उसके लिए स्वरभेद हैं या न जानने वालेके लिए?

अब दूसरी बात लें, भगवान् सत्य-संकल्प हैं। उन्होंने जब संकल्प किया-'एकोऽहं बहुस्याम' तो वह संकल्प नित्य या अनित्य? यदि संकल्प नित्य तो जगत् अनित्य क्यों है?

शास्त्र-संत सब कहते हैं कि भावके अनुसार भगवान्का दर्शन होता है। अब यदि भाव अनित्य है तो उसके अनुसार जिस रूपमें भगवान्का दर्शन हुआ वह रूप नित्य कैसे होगा? वह रूप तो तभी नित्य होगा जब भाव नित्य हो।

पृथ्वीपर एक ही समय विभिन्न स्थानोंमें कुछ सहस्र लोग भगवान्के विभिन्न रूपोंके दर्शनके लिए परम व्याकुल हो जायँ तो उनको अपने-अपने अभीष्ट रूपोंमें एक ही समय भगवद्दर्शन होगा या नहीं? भगवान् सर्व-शक्तिमान् हैं तो दर्शन होगा ही। अब उन सब स्थानोंमें अनेक रूपमें प्रगट भगवान् एक या अनेक? भगवान्के वे रूप नित्य या अनित्य? यदि उनमें कोई रूप अनित्य है तो कहना होगा कि भगवान् भी छल करते हैं और उस भक्तको अनित्य रूपका दर्शन कराके उन्होंने ठग लिया। अपने नित्य रूपका दर्शन उसे नहीं कराया।

इन सब समस्याओंका समाधान ढूँढ़ने जाएँ तो अपनेसे ही चलना होगा;

क्योंकि भगवान् या भगवल्लोक तो देखा है नहीं। भगवान्का दर्शन भक्तके भावानुसार रूपमें होता है और भगवान्का वह रूप नित्य होता है। इसका अर्थ है कि भाव नित्य-तत्व है। उनका सम्बन्ध भगवान्के किसी-न-किसी रूपसे है। मनमें हम भाव बनाते नहीं हैं। भाव कृत्रिम-कल्पित या हमारा बनाया नहीं है। भाव मनमें आता है। मन केवल भावको ग्रहण करता है। जैसे रेडियोयन्त्र ध्वनितरंगोंको ग्रहण करता है। वह नयी तरंग बनाता नहीं है। ध्वनिवाहक तरंगें तो नित्य हैं। उनमें केवल ध्वनिका प्रसारण होता है। तरंगको उत्पन्न करना केवल इस अर्थसे सार्थक है कि ईथरमें उठने वाली लहरोंको यन्त्र ग्रहण करके उनमें ध्वनिका प्रसारण करे।

योगकी एक सिद्धि है परिचित-ज्ञान। इसपर आजकलके वैज्ञानिक भी प्रयोग कर रहे हैं और कई स्थानोंपर एक छोटी सीमा तक सफलता भी मिली है इसमें क्या कोई अपने सूक्ष्म-शरीरको दूसरेके शरीरमें प्रवेश कराता है? ऐसा नहीं होता। अपने चित्तको शान्त करते हैं। अपना संकल्प-विकल्प एवं सोचना बन्द करके उस व्यक्तिका चिन्तन करते हैं। उसकी समान स्थितिमें चित्तको ले आते हैं। ऐसा होनेपर अपने चित्तमें जो बातें आती हैं, वे वही होती हैं जो उसके चित्तमें आ रही होती हैं। यह क्या है? दो रेडियो यन्त्रोंको एक ही स्टेशनपर लगा देने जैसी यह क्रिया है।

इसका तात्पर्य यह है कि अन्तरिक्षमें अनन्त भाव स्तर हैं। प्राणीका अन्त:करण उनमें-से जिन-जिन स्तरोंको ग्रहण करता है, उन-उन स्तरोंके भाव उसके भीतर व्यक्त होते रहते हैं। अपनी ओरसे कोई नया भाव, नयी कल्पना कभी बन नहीं सकती।

यह बात केवल मनुष्यके लिए नहीं है। ब्रह्मसे लेकर क्षुद्र कीट तकके समीप अन्त:करण वही है जो मनुष्यके पास है। वह शरीररूपी उपकरणके कारण भले अति प्रबुद्ध अथवा अप्रबुद्ध हो; किन्तु है वही। कर्मयोनि मनुष्ययोनि ही है। मनुष्ययोनिके कर्मका भोग प्राप्त करते ही जीव अन्य योनियोंमें आता है। मनुष्य मरता है तो जीव सूक्ष्म-शरीरके साथ ही स्थूल-देहसे निकलता है और सूक्ष्म-शरीर ही विभिन्न योनियोंको प्राप्त करता है। अत: ब्रह्मलोकसे लेकर कीट पर्यन्त जितने प्राणी हैं सबमें वही सूक्ष्म-शरीर है जो हममें है। सबके अन्त:करणके उपकरण ऐसे ही हैं। इसलिए सभी अपने-अपने भाव नित्य भावस्तरोंसे ही ग्रहण करते हैं। सृष्टिकर्ताका मन भी नवीन भाव नहीं गढ़ता। वह भी भावस्तरोंसे ही

भाव ग्रहण करता है। इसीलिए 'यथापूर्वमकल्पयत्' जैसी पूर्वकल्पकी सृष्टि थी, वैसी ही सृष्टि वे करते हैं।

ऋषि अथवा योगी सर्वज्ञ हो सकता है; क्योंकि वह अपने चित्तको अभीष्ट भावस्तरमें ले जा सकता है। उस स्तरमें जानेपर क्या भाव मनमें आवेंगे, वह जान लेता है। हमारा-आपका निर्माण कार्य कैसे होता है? पहले वस्तुका आकार मनमें आता है और तब उसे बनाया जाता है। यही बात सृष्टिकर्ताके लिए भी है। मनमें आये बिना अनजानेमें, मूर्च्छित दशामें तो वे कुछ नहीं बना सकते। मनमें जो आवेगा, वह भाव केवल ग्रहण किया गया है। वह बनाया नहीं गया है। इसका अर्थ है कि भावरूपसे सृष्टि नित्य है। उन भावोंको ग्रहण करके व्यक्त करने मात्रके कार्यको सृष्टि कहते हैं। अतः जो अपने चित्तको अभीष्ट भावस्तरमें ले जा सकेगा वह उन भावोंको व्यक्त रूप भी जान ही सकेगा। यही सर्वज्ञताका रहस्य है।

जैसे एक रेडियो-यन्त्र कितने स्टेशन पकड़ सकेगा यह निश्चित रहता है और कुछ इसपर भी निर्भर करता है कि वह कैसे स्थानपर रखा है। इसी प्रकार सूक्ष्म-शरीर जैसे देहमें है, जैसी स्थितिमें है, उसके अनुसार ही भाव-ग्रहणकी क्षमता उसमें होती है। इसलिए भी योगीको उसके भूत-भविष्यका ज्ञान प्राप्त करना सुगम होता है।

यहाँ योगके चमत्कारोंका हेतु-विवेचन नहीं करना है। यहाँ तो यह देखना है कि इन भावस्तरोंका आधार क्या है? यदि प्रत्येक भावके अनुसार भगवद्दर्शन हो सकता है और भगवान्‌के वे रूप नित्य हैं तो कहना होगा कि भगवान्‌के अनन्त नित्य रूप हैं और उन रूपोंके अनुसार ही भावस्तर हैं। अवश्य ही संसारमें भावविकृतियाँ भी हैं और भाव-सा कर्म भी। जैसे काम ही शुद्ध होकर प्रेम हो जाता है। प्रेम जब देह-इन्द्रियोंकी तृप्तिकी वासनाके क्षेत्रमें आता है, कामके विकृत रूपमें व्यक्त होता है। जैसे टेढ़े-मेढ़े कटे और हिलते शीशेमें सूर्यकी किरणें वक्र दीखती हैं, वैसे ही चित्तकी विकृति एवं चाञ्चल्य भावोंको विकृत कर देता है। फिर भी मानना होगा कि भावस्तर असंख्य हैं। चित्तकी विकृति एवं चाञ्चल्यके द्वारा आयी विकृतियोंको पृथक् कर देनेपर जो मूल भाव शेष रहते हैं, वे भी बहुत अधिक हैं उनकी स्थिति नित्य इसलिए है; क्योंकि भगवान् नित्य हैं और वे भाव एक प्रकारसे उन सगुण साकार भगवान्‌की किरणें हैं।

जब भगवान्‌के सगुण-साकार बहुतसे नित्य रूप हैं तो उन-उन रूपोंके

अनुरूप उनके नित्यधाम भी होंगे ही। भक्तको अपने भावके अनुसार केवल अभीष्ट रूपमें भगवद्दर्शन ही नहीं होते। उसे अपने उस इष्टके लोककी प्राप्ति भी होती है और वह लोक नित्य होता है। इस प्रकार भगवान्के सगुण नित्य-लोक भी बहुत हैं। वे सब शाश्वत हैं। श्रुति कहती है—

'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादोऽस्यमृतं दिवि।'

इस परमात्माके एक पादमें निखिल ब्रह्माण्ड हैं और तीन पादमें अमृत-शाश्वत दिव्यलोक हैं। समस्त सृष्टि-कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड एक पादमें हैं और दिव्य-लोक तीन पादमें है। अतएव उन दिव्य-लोकोंकी संख्या अनन्त कहनी ही होगी।

इन भगवद्धामोंमें सर्वोपरि कौन? सर्वश्रेष्ठ कौन? मनुष्यमें जो अहंकार है 'मैं श्रेष्ठ, मेरी वस्तुएँ, मेरे विचार, मेरी मान्यता श्रेष्ठ।' यही अहंकार आराधना, आराध्य एवं आराध्यलोकमें भी श्रेष्ठ-कनिष्ठका तारतम्य मनमें ले आता है। अहंकार अज्ञानका कार्य है, अत: अहंकारकी सब मान्यता अज्ञानजन्य है।

इस बातमें आप शास्त्रको बीचमें ला सकते हैं। वैकुण्ठका जहाँ वर्णन है, उसके अंगरूपमें कैलास, साकेत, गोलोकादिका भी वर्णन है। इनके अधिष्ठाता वहाँ श्रीनारायणसे कनिष्ठ कहे गये हैं। जहाँ साकतेका वर्णन है वहाँ कैलास, वैकुण्ठ तो वाह्य परिखामें कहे गये हैं। गोलोक श्रीरघुनाथका गोष्ठ बतलाया गया है और श्रीकृष्णको उन गायोंका परम निरीक्षक। गोलोकके वर्णनमें कैलास, वैकुण्ठ, साकेतादि गौण कहे गये हैं और उनके अधिपति भी कैलासके वर्णनमें वैकुण्ठ, साकेत, गोलोकको गौण कहा गया है। इसी प्रकार देवीद्वीप, गणपतिलोक, सूर्यलोकका वर्णन है। एक ही वर्णन करने वाले भगवान् व्यास और वर्णनोंमें इतनी विभिन्नता! इसका तात्पर्य क्या है? जिसका वर्णन है, उसको सर्वश्रेष्ठ कहने तक बात कुछ ठीक थी। उस वर्णनको निष्ठाकी दृढ़ताके लिए मान सकते थे; किन्तु उसमें अन्य लोकों एवं लोकेशोंकी गौण रूपमें उपस्थितिका वर्णन क्यों? ये वर्णन झूठे हैं, ऐसा तो कहा नहीं जा सकता। झूठे हैं, अर्थवादयुक्त हैं तो कौनसे? उनमें कोई सत्य भी है या नहीं?

वर्णन सब सत्य हैं। अर्थवाद किसीमें नहीं है। यह दोष हमारी समझका है। भगवान् लीलामय हैं। उनकी विचित्र लीला ही यह है कि सबमें सबका नाटक वे करते हैं। प्रत्येक पिण्डमें पूरा ब्रह्माण्ड-ब्रह्माण्डकी प्रतिकृति है। एक-एक अणुमें सौर-मण्डलका अनुसरण है। 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की बात आप

सृष्टिमें समझते हैं तो दिव्यलोकोंमें यह बात क्यों नहीं समझ पाते? प्रत्येक दिव्यलोकमें दूसरे सब दिव्यलोकोंकी झाँकी है। मुख्य लोक तो वह है ही; किन्तु दूसरे दिव्यलोकोंकी झाँकी उसमें गौणरूपसे है। अतः जब मुख्य रूपसे वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत, कैलास या देवीलोकका वर्णन हो तो समझना चाहिए कि इसमें जो गौणरूपसे दूसरे लोकोंका वर्णन है, वह इस लोकके अन्तर्गत जो अन्य दिव्यलोकोंकी अवस्थिति है, उनका वर्णन है। उनके मुख्य स्वतन्त्र रूपका वर्णन नहीं है।

एक दिव्यलोकका वर्णन एक निष्ठाके आराधकके लिए। उस वर्णनसे दूसरी निष्ठा वालेके आराध्य एवं उस आराध्यके लोकका वर्णन अनावश्यक है। वहाँ तो जिस लोकका वर्णन अभीष्ट है, उसके ही सम्पूर्ण अंगोंका वर्णन करना है। अतः उस लोकमें जिन अन्य लोकोंकी झाँकियाँ अवस्थित हैं, उनका भी वर्णन किया जाता है। एक पुराण या निष्ठाके लिए होने वाले वर्णनमें दूसरी निष्ठाके आराध्य एवं लोकोंका वर्णन है ही नहीं।

जैसे करोड़ों ब्रह्माण्ड हैं। इन ब्रह्माण्डोंके पृथक्-पृथक् ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु हैं। अब श्रीरामचरितमानसमें जब आता है—

जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥

तो यहाँ नित्य साकेताधीश्वरी भी जानकीके अंशसे प्रत्येक ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु एवं शिवकी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। यहाँ विष्णु भक्तोंके आराध्य परम वैकुण्ठाधिनाथ भगवान् नारायण एवं उनकी अभिन्न शक्ति भगवती महालक्ष्मी अथवा शिवभक्तोंके आराध्य परम कैलास स्थित भगवान् शिव एवं उनकी अभिन्न शक्ति भगवती उमाकी चर्चा ही नहीं है। कहीं-कहीं ऐसी चर्चा भी पुराणोंमें आती है, जहाँ दो परम दिव्य धामके अधीश्वरोंके मिलनका वर्णन होता है। वहाँ उन दोनोंको ही समान कहा जाता है। उन दोनोंमें श्रेष्ठ कनिष्ठका वर्णन नहीं होता। दो नित्यधामोंका वर्णन तो एक साथ कहीं किया ही नहीं जाता। अतः गोलोक, साकेतादिके वर्णनमें जब दूसरे लोकको उसके उपनगरकी भाँति वर्णित किया गया हो तो समझ लेना चाहिए कि यहाँ मुख्य गोलोक या साकेतका वर्णन नहीं है। यह तो उस मुख्य लोकके अन्तर्गत लोकका वर्णन है।

अधिक स्पष्ट समझनेके लिए यों समझ लीजिये कि एक लोक मुख्य और उसमें दूसरे सब लोकोंकी गौण अवस्थिति भी रहती है। जैसे संसारमें जो पञ्चमहाभूत हैं वे पञ्चीकृत हैं और उनमें प्रत्येक तत्त्वमें दूसरे तत्त्व भी हैं। जब

हम पृथ्वी-तत्त्वका वर्णन करेंगे तो उसमें गौण रूपसे जल, अग्नि, वायु, आकाशका वर्णन भी करना ही होगा। लेकिन यह वर्णन मुख्य जलतत्त्व या अग्नि-तत्त्वादिका नहीं होता।

मायावृत्त एक पाद विभूतिकी दशा भी अद्भुत है। इसमें कभी किसी कल्पमें सृष्टि भगवान् नारायणसे प्रारम्भ होती है, कभी शिवसे, कभी देवी से। यह माया तो नित्य दिव्य लोक भी छाया ग्रहण करके उसे अपनेमें प्रतिबिम्बित करने लगता है। इसी प्रकार मायिक ब्रह्माण्ड जिस नित्य लोककी सन्निधिमें होता है, इसमें वह दिव्यलोक भाव रूपमें प्रतिबिम्बित होता है। क्योंकि वह दिव्यलोक सगुण-साकार है, सृष्टिमें आकारोंकी विविधता व्यक्त होती है। यह मायिक जगतकी विकृतियों-चञ्चलतासे अधिक बढ़ जाती है।

मायिक जगत में केवल भावस्तर है, प्रतिबिम्ब हैं। दूसरे शब्दोंमें कहें तो यहाँ कोई जीव है ही नहीं। यहाँ जीवाभास है, जीवोंके प्रतिबिम्ब हैं, जैसे सूर्यका प्रतिबिम्ब घड़ेके जलमें पड़ता है। मूल बिम्ब तो नित्य दिव्यलोकमें है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है, ये दिव्य-लोक एक देशीय हैं या सर्व- देशीय? यह प्रश्न यह मानकर उठा है कि हमारी देशगत कल्पना सत्य है। लेकिन यह जगत कहाँ है? ब्रह्माजीने अपने मनसे सृष्टिकी तो यह जगत ब्रह्माके मनमें ही है या उससे बाहर? मानसिक जगतका देश-काल कैसा होता है? आप जब स्वप्न देखते हैं, उसमें एक बड़ा नगर होता है। जागनेपर आप बतला सकते हैं कि आपका वह नगर कहाँ था? उसका स्थान क्या पृथ्वीपर एक बिन्दु जितना भी है?

इसको यों समझिये। एक साथ पृथ्वीके दो लाख स्थानोंपर भगवान् श्रीकृष्ण दो लाख भक्तोंको दर्शन दे सकते हैं या नहीं? दर्शन देकर भी क्या वे दो लाख होंगे? इतने रूप ग्रहण करना पड़ेगा? यह कुछ नहीं होगा। उन्हें कहींसे आना नहीं पड़ेगा। इसका सीधा अर्थ है कि सगुण-साकार रूप भी सर्वगत है। वह हमें भले छोटा-सा दीखता है; किन्तु वह सर्वत्र है।

सगुणका यह वैभवबुद्धिमें नहीं आता। सभी आचार्य कहते हैं कि 'परमतत्व अवाङ् मनसगोचर' है। यह श्रद्धैकगम्य है। मन-बुद्धि-वाणीमें यह नहीं आता। वाणीसे जो कहा जायगा-लेखनीसे लिखा जायगा, वह अपूर्ण रहेगा। अवश्य उसपर श्रद्धा करके चलने वालोंको वस्तुतत्व उपलब्ध हो जायगा-अवश्य हो जायेगा। अतः संक्षिप्त रूपसे पुनः (यह जानते हुए कि वर्णन अपूर्व रहेगा ही) परमतत्वका वर्णन दिया जा रहा है ।

१. सृष्टिके मूलमें जो नित्यतत्व है, वह सच्चिदानन्दस्वरूप है। वह है, इसलिए सत् है। वह रसस्वरूप है, इसलिए आनन्द है। इस रसका भाव है-बिना भावके रस है, यह पता कैसे लगेगा? आप मूर्छित हों तो सुख या दुःखका क्या पता? रसका आनन्दका ज्ञान हो तो वह आनन्द। उसमें भाव है, ज्ञान है, अतः वह चित्त है।

२. इस रस एवं भावस्वरूपमें वह सर्वव्यापक है। वस्तुतः वही है। उसमें सर्व देश, सर्व काल, सर्व पदार्थ ही कल्पित हैं।

३. वह सगुण-निर्गुण उभयात्मक है और दोनों रूपों में सर्वव्यापक है। वह अद्वितीय है और निर्गुण रूपमें निर्विकार, निर्धर्मक है। उसके इस निर्गुण रूपकी अनुभूति 'अहं' के रूपमें ही होती है।

४. सगुण रूपमें उसका रसरूप शक्तिमान् रूप है और भावरूप शक्तिरूप है। जैसे सगुण एवं निर्गुण रूप परस्पर सर्वथा अभिन्न है। वैसे ही शक्ति-शक्तिमान् रूप भी सर्वथा अभिन्न सर्वगत है।

५. क्रीड़ाके लिए उसके ये शक्ति-शक्तिमान् रूप असंख्य हैं। वे अनेक होते हुए भी एक हैं और पृथक्-पृथक् होते हुए भी परस्पर अभिन्न हैं। इन रूपोंके अपने नित्यधाम हैं। उन धामोंमें 'एकोऽहं बहुस्याम' का नित्य संकल्प करने वाला यह सर्वसमर्थ नाना रूपोंसे क्रीड़ा करता है।

६. इन नित्यधामोंमें कोई श्रेष्ठ-कनिष्ठ नहीं है। सब परस्पर अभिन्न एवं एकके ही अनेक रूप हैं।

७. प्रत्येक नित्यधाममें दूसरे अनेक धामोंके भी प्रतिरूप हैं। ये प्रतिरूप वहाँ अवश्य गौणरूपसे हैं।

८. नित्यधाम, वहाँके पार्षद, परिकर, पदार्थादि सब वही सगुण तत्त्व बना है। वह एक ही वहाँ अनेक रूप हैं। वहाँ मुख्यता, गौणता सेव्य-सेवक रूप केवल लीलाके लिए है। वस्तुतः वे सब रूप परस्पर सर्वथा अभिन्न हैं-एक ही है।

९. नित्यलोकके इन रूपोंकी प्रतिच्छाया ही मायाके क्षेत्रमें भावस्तर बनती है और वे भाव जब शुद्ध या विकृत बनकर मूर्तिमान होते हैं तो सृष्टि-विस्तार होता है।

१०. यहाँ संसारमें जितने जीव हैं-ब्रह्मलोकसे नरक तक, सब दिव्यलोकके-लीलारूपके प्रतिबिम्ब हैं। मायामोहित वे अपनेको संसारी मानकर आवागमनके चक्र में पड़े हैं। अपने नित्यरूपको जानकर अथवा निर्गुण तत्त्वका बोध प्राप्त करके वे इस जन्म-मरण रूप संसारसे मुक्त हो जाते हैं।

●●

अवतार और आजके ये अवतार

अपनेको अवतार कहने या मानने वालोंकी अथवा जिनको उनके भक्त अवतार घोषित करते हैं, ऐसे लोगोंकी एक सूची मैंने बहुत वर्ष पहले बनाई थी। उसमें कुछ ऐसे लोगोंके नाम भी थे, जिनके भक्त उन्हें अमर कहते थे। इस सूचीमें प्रायः प्रसिद्ध लोगोंके नाम थे और उनके भक्तोंमें उच्चपदस्थ लोग तथा देशके बड़े-बड़े विद्वान् थे। बहुत दिन पहलेकी बात है। उस सूचीके लोग प्रायः सब परलोक पधार चुके हैं। वे भी मर गये जो अपनेको अमर कहते थे अथवा जिनके भक्त उनको अमर घोषित करते थे।

उस सूचीमें एक-दो नाम मुस्लिम भी थे, जिन्होंने अपना एक भक्त-समुदाय बना लिया था। एकाध नाम इतरधर्मीय भी थे। सूचीकी एक विशेषता थी कि अपनेको श्रीरामका अवतार कोई नहीं कहता था। कल्किके अवतार तथा श्रीकृष्णाके अवतार कहने वाले ही उसमें अधिकांश थे। कुछ ऐसे भी थे जो अपनेको अब तक हुए अवतारोंसे बड़ा बतलाते थे। उनके मतसे अब तक हुए अवतार उनकी अपेक्षा विकासके निम्न स्तरके थे। ये महानुभाव अवतारोंमें भी विकासवादका प्रतिपादन करने वाले थे।

वह सूची और उसमें जिनके नाम थे वे भूतकालकी वस्तु हो चुके। अब उनकी चर्चा अकारण है; किन्तु स्थिति उस समयसे कुछ परिवर्तित हुई हो ऐसा लगता नहीं है। आज भी कोई वैसी सूची बनाई जाय तो उस पुरानी सूचीकी अपेक्षा अधिक ही नाम उसमें आवेंगे कम नहीं।

वृन्दावनमें तथा अन्यत्र लड़कियोंमें अपनेको श्रीराधा अथवा मीरा कहने

वाली कितनी हैं-मैंने कभी गिनना नहीं चाहा। इस गणनाका कोई लाभ नहीं है। ऐसे सब स्थानोंपर दम्भ ही होता हो ऐसी बात भी नहीं है। अधिकांश स्थानोंपर दम्भ होता है; किन्तु कहीं उसमें रागानुगा शुद्ध भक्ति भी होती है। अतः अवतार तथा रागानुगा भक्ति को समझ लेना आवश्यक है।

अवतार क्या?

अवतारका अर्थ है उतरना। अपनी शुद्ध सच्चिदानन्द स्थितिसे मायाके क्षेत्रमें जब परमात्मा भक्त-वात्सल्यके कारण उतर आता है तो उसे अवतार कहते हैं।

परमात्मा ही चेतन है और वह सर्वव्यापक है। सभी जीव उसीके अंश हैं। इस अर्थमें जीवमात्र परमात्माके ही स्वरूप हैं। भौतिक जगत्में पञ्चभूतोंसे बने देहोंमें जब परमात्माका चैतन्य व्यक्त होता है तो उसे जीव कहते हैं। जीव योनियोंमें भी सर्वत्र समान रूपसे चैतन्यका विकास नहीं है। इसलिए जीवोंमें चैतन्यकी कला का तारतम्य माना जाता है। इस संसारमें वह परम चेतन जिस सीमा तक प्रगट हो सकता है, उस सम्पूर्ण प्राकट्यको शास्त्र की भाषामें षोडश कला कहा जाता है। अब इसीकी पूर्णताको देखते अन्यत्र कलाओंका निर्णय होता है।

उद्भिज-तृण, लता, वृक्षादि ऊर्ध्वस्रोत वनस्पतिमात्रमें चेतनकी एक कला है। स्वदजोंमें तथा एककोशीयसे कई-कोश तकके जीवाणुओंमें चेतनकी दो कला व्यक्त होती हैं। अण्डेसे उत्पन्न होने वाले पक्षियों, जलचरों तथा सर्पादिमें तीन कला प्रगट होती हैं। मनुष्येतर उन दूसरे पशुओंमें जो माताके पेटसे उत्पन्न होते हैं, चेतनकी चार कला है। मनुष्यमें सामान्यतः पांचसे आठ कलाका प्रादुर्भाव होता है।

मनुष्योंमें जो बहुत वन्य, असंस्कृत अथवा बुद्धि-रहित-प्राय हैं, वे पाँच कलाके। जिनमें सामान्य विद्या-बुद्धि है वे छः के और विशिष्ट बुद्धिमान् प्रतिभाशाली लोग सात कला सम्पन्न हैं, ऐसा कहना चाहिए। आठ कला जिनमें व्यक्त होती है, वे लोकोत्तर महापुरुष-युगपुरुष माने जाते हैं। इन कलाओंमें भी अंश होते हैं—अतः एक कलामें कितने अंश कहाँ व्यक्त हुए, इसके अनुसार मनुष्योंकी विद्या-बुद्धि आदिमें तारतम्य रहता है।

कभी-कभी मानव देहमें भी परमात्माका अवतार होता है। वे अवतार अंशावतार अथवा कलावतार कहे जाते हैं। भगवान् व्यास, कपिल, परशुरामजी, पृथु, ऋषभदेव आदि इसी कोटि के अवतार हैं। चेतनकी आठ कलाके व्यक्त होने तक तो स्थूल-शरीर पञ्चभौतिक ही रहता है। उसमें रोग, बुढ़ापा, मृत्यु सब आते हैं। अतः आठ कला तकके महापुरुषोंको अवतार नहीं कहा जाता। जब नौ कला व्यक्त होती हैं तो वहाँ पञ्चभौतिक-शरीर विशिष्ट बन जाता है। इस शरीरमें रोग और बुढ़ापा नहीं आता। मृत्यु अनिवार्य नहीं होती। यह उसकी इच्छापर है कि पृथु एवं ऋषभदेवज की भाँति देहत्याग स्वीकार करे अथवा व्यासी, कपिल आदिकी भाँति दिव्य देहसे अमर बना रहे।

पञ्चभौतिक देह नौ कलासे अधिक चेतनका आविर्भाव नहीं कर पाता। इसलिए इससे अधिक कलाएँ दिव्य-देहके माध्यमसे व्यक्त होती हैं। मत्स्य, कच्छप, वाराह, वामन आदि अवतार दस या ग्यारह कलाके माने जाते हैं। ये दिव्य देह किसी स्थूल माता-पिताके माध्यमसे प्रगट हों-ये आवश्यक नहीं है। ये आविर्भूत होते हैं। माता-पितासे भी प्रगट होना हो तो केवल वैसा प्रतीतमात्र कराते हैं। इसी प्रकार इनमें बुढ़ापा या मृत्यु नहीं है। ये तिरोहित होते हैं।

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीराममें द्वादश कला और श्रीकृष्णचन्द्रमें षोडश कला कही गयी है। वैसे ये दोनों पूर्णावतार हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि नौ या उससे अधिक कलामें जब अवतार होता है तो भगवान् पूर्ण ही होते हैं। उनमें कम या अधिक शक्तिका तारतम्य नहीं होता। संसारमें जितनी शक्तिको प्रगट करनेका प्रयोजन था, उतनी उन्होंने प्रगट की। जितनी शक्ति प्रगट की, उसीको लेकर उतनी कलाका उन्हें कहा गया। जैसे सेर भरका पत्थर उठाना हो तो आप अपनी पूरी शक्ति तो नहीं लगावेंगे। भगवान् श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम थे। लोकमर्यादाकी सीमामें जितनी दिव्य शक्तिका प्रयोग किया जा सकता था, उतनी उन्होंने किया। शक्ति तो उनमें अनन्त थी। श्रीकृष्णचन्द्र लीलापुरुषोत्तम थे, अतः शक्तिके प्राकट्यमें उनको मर्यादाका बन्धन नहीं था। इसलिए वे मथुरा द्वारिकादिमें तो प्रायः चतुर्भुज बने रहते थे।

जिन मनुष्य शरीरमें हम रोग होते देखते हैं, जो बूढ़े होते हैं, उन टूटे या सड़े दाँत वाले, झुर्री पड़े शरीर, पके केश वाले लोगोंको अवतार मानना या कहना अपने अज्ञानका ही परिचायक है। अवतार यदि अंश या कला भी हो तो उसमें रोग तथा बुढ़ापेके लक्षण नहीं आते।

कोई संत, सिद्ध, महापुरुष हो सकता है। संत और भगवान्में भेद नहीं है, सत्य भी सत्य है; किन्तु उसे अवतार बनाकर आप दम्भी क्यों सिद्ध कर रहे हैं? जब किसी पञ्चभौतिक देहधारीको आप अवतार कहते हैं तो यह उसका सम्मान नहीं होता। यह तो उसका अपमान होता है। यदि वह ऐसी बातोंकी स्वीकृति देता है तो उससे सावधान रहनेकी आवश्यकता है। उसके संत होनेमें पूरा-पूरा सन्देह है।

भक्तावतार

अवतार भगवान्के ही नहीं होते, भक्तोंके भी होते हैं। कभी-कभी अनन्त करुणा-वरुणालय प्रभु जगतके जीवोंपर दया करके उनके कल्याणके लिए अपने किसी निज जनको संसारमें भेज देते हैं। इस प्रकार दिव्य लोकसे आये वे महाभाग प्रायः सामान्यके समान ही जन्म लेते हैं और मनुष्यकी साधारण देह ही उन्हें प्राप्त होती है। यद्यपि वे कर्म-बन्धनसे मुक्त होते हैं, फिर भी उनके शरीरमें रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि सभी आते हैं। इन्हें वे स्वेच्छासे स्वीकार कर लेते हैं। कुछ आचार्योंका मत है कि उनका प्रारब्ध तो होता नहीं; किन्तु अपनेको दूसरेके ही समान दिखलानेके लिए या तो वे रोग-बुढ़ापे आदिको स्वेच्छासे अभिनयकी भाँति अपनेमें दिखलाते हैं अथवा अपने सम्पर्कमें आने वाले किन्हीं लोगोंपर कृपा करके उन लोगोंके अनजानमें ही उनके प्रारब्धके अशुभ कर्मोंका कुछ भोग स्वयं स्वीकार कर लेते हैं।

इस प्रकार जो भक्त संसारमें आते हैं, वे अपनेको भक्त या अवतार नहीं घोषित करते। उनमें तो भक्तोंकी विनम्रता सहज स्वाभाविक होती है। वे अमुकका अवतार न बनते, न कहलाते। वे तो जिस शरीरमें आये हैं, उसके लौकिक नामसे ही अपनी विशिष्टताके कारण प्रसिद्ध होते हैं। मीरा या नरसी अपने ही नामोंसे स्मरणीय हैं। उनको 'अमुक' का अवतार कहलानेकी न आवश्यकता थी और न ऐसा कहनेका लोगोंका साहस हुआ है।

रागानुभक्त

भगवान्का अवतार जब पृथ्वीपर होता है तब और कभी-कभी सामान्य समयमें भी उन प्रभुसे प्रेम करने वाले भक्त होते हैं। उनका भगवान्में सहज

राग-प्रीति होती है। रागका नियम ही है कि वह सम्बन्धपूर्वक होता है। अतः आचार्योंने उसके प्रकार निश्चित किये हैं।

१. भगवान् स्वामी और हम उनके सेवक, यह दास्य भावका राग है। उद्धव, दारुक आदिका श्रीकृष्णमें, श्रीहनुमानजीका भाव राममें ऐसा ही राग था।

२. भगवान् हमारे मित्र, यह सख्य भाव है। अर्जुन तथा व्रजके गोप बालकोंका श्रीकृष्णके प्रति भी यही भाव था।

३. भगवान्‌को अपना पुत्र-स्नेह भाजन मानना वात्सल्य भाव है। श्रीकृष्णमें यही भाव बाबा नन्दका तथा व्रजके सभी वृद्ध गोपोंका था, वसुदेवजीका था। माता यशोदा, रोहिणी एवं अन्य वृद्धा गोपियोंका सभी वसुदेव-पत्नियोंका था।

४. श्रीराधा एवं गोपियोंका, द्वारिकाकी महारानियोंका श्रीकृष्णके प्रति जो प्रियतमभाव-पतिभाव था, उसे मधुरभाव कहा जाता है।

दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य इन चारमें-से किसी भावसे उन निखिल लोकेश्वरके निज परिकरके जन उनके नित्य सिद्ध धाममें उनसे राग (प्रेम) रखते हैं। जब श्रीभगवान् अवतार लेते हैं, तब उनके अपने नित्य परिकरके लोग भी पृथ्वीपर आते हैं और वे यहाँ भी उनसे अपने भावके अनुसार राग रखते हैं। अपवादस्वरूप मीराके समान भक्त अवतार-कालके अतिरिक्त भी होते हैं, जिनका सीधा राग भगवान्‌से होता है। यह राग उनके हृदयका स्वभाव होता है। इससे किसीका अनुकरण नहीं होता।

अवतार कालके अतिरिक्त सामान्यतः पृथ्वीपर जो भक्त होते हैं, वे दास्य, सख्य, वात्सल्य या माधुर्यमें-से किसी भावको जब अपनाना चाहते हैं तो भगवान्‌के नित्य-परिकरोंमें उस भावको रखने वाले किसीको अपना आदर्श बना लेते हैं और उसके समान प्रेमका भाव हृदयमें भगवान्‌के प्रति लानेका यत्न करते हैं। इसका नाम अनुराग है; क्योंकि अपने आदर्श व्यक्तिके रागके पीछे चलकर यह वैसा बनधाना चाहता है। इन अनुराग करने वाले भक्तोंको रागानुग भक्त कहा जाता है।

प्रेम जब तीव्र होता है तो उसमें आत्म-विस्मृति हो जाती है। गोपियोंको रासके मध्य जब श्रीकृष्णका वियोग हुआ तो उस समय चिन्तनकी प्रगाढ़तासे

उनमें 'कृष्णोऽहं' यह अनुभूति जाग उठी। इसी प्रकार रागानुग भक्त जिसे अपना आदर्श मानता है, यदि चिन्तन प्रगाढ़ है तो यह अनुभव होने लगता है कि वह अपने आदर्श व्यक्तित्वसे एक हो गया है। इस प्रकार कोई अपनेको श्रीराधा या मीरा अनुभव करता है तो वह दम्भ ही करता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

अवश्य ही इस प्रकारकी अनुभूति का अर्थ यह नहीं है कि वह सचमुच श्रीराधा या मीरा है अथवा उनका अवतार है। इसका अर्थ इतना ही है कि उसकी भावना प्रगाढ़ हो गयी है। 'कृष्णोऽहं' की अनुभूतिसे गोपियाँ श्रीकृष्ण नहीं हो गयीं थीं। अतः ऐसी अनुभूति को लेकर मान-प्रतिष्ठादि तो सर्वदा ही विपरीत दिशा-पतनकी ओर ही ले जाने वाला है।

सच यह है कि जीव केवल भगवल्लोकमें हैं। भगवान्‌के अंश, उनसे नित्य अभिन्न, परिकरके ही स्वरूप जीव पृथ्वीपर आते भी हैं तो उनके साथ ही आते हैं। पृथ्वीपर जो हम-आप सब हैं, ये सब मनुष्य-पशु-पक्षी आदि जीवाभास है। ये उन नित्य धाममें स्थित भगवत्पार्षदों-परिकरोंके प्रतिबिम्ब मात्र हैं। साधन-भजनसे भगवत्कृपासे जब अन्तःकरण शुद्ध होता है, तब यहाँके जीवको पता लगता है कि वह उस नित्य-लोकमें किस रूपमें स्थित है। किसका प्रतिबिम्ब है वह। भक्तिशास्त्रमें इस बोधका नाम ही ज्ञान है और यही ज्ञान जन्म-मरणसे मुक्ति देने वाला भक्ति-शास्त्रमें माना जाता है ।

यहाँ जिसका वात्सल्य-भाव है, यदि वह नित्यधाम जाता है तो वहाँ कोई पृथक् माता या पिता उसे नहीं बनना है। वह वहाँ जो नित्य नन्द-यशोदा अथवा दशरथ-कौशल्या हैं उनमें एकत्व प्राप्त कर लेता है। प्रतिबिम्ब अपने बिम्बमें मिल जाता है। अब यदि यहाँ किसीको ज्ञात भी हो जाता है कि नित्यधाममें उसका बिम्ब क्या है। तो यह हृदयमें छिपा रखनेकी वस्तु है। इसे लोक-प्रतिष्ठाके लिए जो विज्ञापन करता है, वह तो पतनके पथपर है। विज्ञापित तथ्यके मिथ्या होनेकी ही सम्भावना वहाँ अधिक है।

●●

चेतन पुरुष और पुरुषोत्तम

'रासायनिक प्रयोगशालामें जीव बनने जा रहा है।' यह कल्पना नहीं है, समाचार है और 'जीव बन गया है' यह समाचार किसी भी दिन पढ़नेको मिल सकता है। यद्यपि प्रारम्भमें अत्यन्त क्षुद्र कीटके रूपमें-सम्भवत: ऐसे कीटके रूपमें ही जीव बनेगा जो सूक्ष्मवीक्षण यन्त्रसे ही देखा जा सके; किन्तु जब अजैव्य द्रव्योंसे एक बार सजीव प्रोटीनकण बन जायगा, एमोनो एसिडके कणोंसे युक्त जीन्स वाले क्रोमोसोम उत्पन्न हो जायेंगे, तब वे स्वतः अथवा थोड़ेसे प्रयत्नसे ही बड़े देहधारी जीव भी बनाने लगेंगे। आश्चर्य नहीं होना चाहिए यदि इसी शताब्दीमें अर्थात् अगले तीस-पैंतीस वर्षोंमें ही वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालामें मक्खी-मच्छर-खटमलकी कोटिके कुछ जीव बनाने लगें।

आप मेरी बातसे चौंकते हैं। आपको लगता है कि इस शताब्दीमें अथवा आगे भी कभी प्रयोगशालामें जीव बन नहीं सकता और यदि बन गया तो बड़ा अनर्थ हो जायेगा। शास्त्रोंकी बहुत-सी बातें खण्डित हो जायेंगी; किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। जीव पहले भी बना है और अब भी बन सकता है। महर्षि विश्वामित्रने नवीन सृष्टि प्रारम्भ कर दी थी। उन्होंने कुछ अन्न और कुछ प्राणी बनाये थे। सृष्टिकर्ता रोक न देते तो वे अपने ढंगसे मनुष्य भी बनाने जा रहे थे। यह सब उन्होंने तपोबलसे किया था। सिद्धि कैसे मिलती है, इस विषयमें महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

'जन्मौषधि तपो मन्त्र समाधिजा सिद्धयः।'

—*योगदर्शन*

कुछ लोगोंको पूर्वजन्मके साथ साधनस्वरूप जन्मसे ही सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। कुछ लोग औषधि-प्रयोगसे सिद्धि पाते हैं, जैसे आजके वैज्ञानिक लोग। तपस्या, मन्त्र और मनकी प्रगाढ़ एकाग्रता भी सिद्धि देने वाले साधन हैं। इनमें-से किसी भी साधनको छोटा-बड़ा नहीं कहा गया है। अतएव किसीको भी और कभी भी जो सिद्धि जन्मसे, तपस्यासे, मन्त्रसे अथवा समाधिसे मिली है-मिलना सम्भव है, वह सिद्धि औषधिसे अर्थात् वैज्ञानिक प्रयोगोंसे भी मिल सकती है। यदि तपोबलसे महर्षि विश्वामित्र नवीन सृष्टि कर सकते थे तो

औषधिबल-रासायनिक ज्ञान प्रबल होनेपर वही कार्य वैज्ञानिक भी अवश्य कर सकेंगे।

नवीन जीवसृष्टि महर्षि विश्वामित्रने की या आजके वैज्ञानिक करें, जीवके नामपर क्या बनेगा? आप किसे जीव कहते हैं? जिसमें इच्छाएँ हों और जो उनके अनुसार चेष्टा कर सके, ऐसी चेतना रखने वाला जीव है, यही परिभाषा जीवकी है या कुछ और? यह चेतना और उसकी इच्छाएँ आदि सब भौतिक तत्त्व हैं। यह चेतन-पुरुष नहीं है। जो तत्त्व भौतिक है, उसका निर्माण वैज्ञानिक प्रयोगशालामें क्यों नहीं हो सकता?

जीवकी परिभाषा क्या है?

'एवं पञ्चविधं लिंगं त्रिवृत् षोडशविस्तृतम्।
एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते॥'

(भागवत ४/२९/७४)

इस प्रकार पञ्चतन्मात्राओंसे बना हुआ तथा सोलह तत्त्वों (दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण और एक मन) के रूपमें विकसित यह त्रिगुणमय संघात ही लिंग (सूक्ष्म) शरीर है। यही चेतना-शक्तिसे युक्त होकर जीव कहा जाता है।

जिसे हम आप सब जीव कहते हैं, वह यह सूक्ष्म-शरीर है और यह उतना ही भौतिक है, जितना भौतिक-शरीर है। इसमें चेतनाको देखकर चौंकनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह चेतना भी भौतिक है। यह संघातज चेतना है और इसका निर्माण तपस्यासे ऋषि विश्वामित्रके लिए सम्भव हुआ था। वैज्ञानिकोंको अपने रसायन-ज्ञानसे इसका निर्माण सम्भव बन सके, यह सर्वथा सम्भाव्य है।

यह चेतना भौतिक है, ऐसी बात मैं स्वयं नहीं कह रहा हूँ। यह बात तो भगवान् श्रीकृष्णने आजसे पाँच सहस्र वर्ष पूर्व अर्जुनके समक्ष घोषित कर दी—

'महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥'

—गीता १३/५-६

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पञ्चमहाभूत, अहंकार तत्त्व, बुद्धि (महत्तत्त्व) अव्यक्त (त्रिगुणात्मिका प्रकृति) दस इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके पाँचों

विषय (पञ्चतन्मात्राएँ-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) इच्छा (राग) द्वेष, इन संघातमें उत्पन्न हुई चेतना और धृति (इन सबको धारण करने वाली शक्ति) यह सब थोड़ेमें क्षेत्रका वर्णन किया।

अब आप ढूँढ़ लीजिये कि इसमें जिसे आप जीव कहते हैं, श्रीमद्भागवतमें जिसे जीव कहा गया है, वह आ गया या नहीं। इच्छा, द्वेष करने वाला, सुख-दुःखका अनुभव करने वाला जो पञ्चतन्मात्राओंसे बना तथा दस इन्द्रिय, पञ्च प्राण, एक मन, इन सोलह तत्त्वोंका त्रिगुणात्मक संघात है, वह संघात और उसमें जो चेतना है वह भी, ये सब क्षेत्रके अन्तर्गत हैं। इसका स्पष्ट अर्थ है कि ये प्राकृतिक भौतिक हैं।

यह जो भौतिक तत्त्वोंसे बना जीव है, इसका भी जन्म-मरण नहीं होता। जन्म-मरण होता है केवल पञ्चभौतिक स्थूल शरीरका। यह जन्म-मरण भी क्या?

'विषयाभिनिवेशेन नात्मानं यत् स्मरेत् पुनः।
जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः॥
जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः॥'

-भागवत ११/२२/३८-३९

श्रीभगवान् उद्धवसे कहते हैं—दानी उद्धव! किसी भी कारणसे प्राणी जब विषयाभिनिवेशसे अपने आपको स्मरण नहीं कर पाता तो उस अत्यन्त स्मृतिका नाम मृत्यु है और सम्पूर्ण भावसे विषयको (देहको) अपनेमें स्वीकार कर लेना यह जीव का जन्म है। जैसे स्वप्नमें जो कुछ दीखता है वे सब प्राणी और पदार्थ स्वप्नद्रष्टाका मन ही बना है; किन्तु उनमें स्वप्नद्रष्टा एक रूपको 'मैं' स्वीकार करके शेषको अन्य मानता है।

स्वप्नमें जो वृक्ष, नदी, समुद्र, पर्वत, पशु-पक्षी तथा मनुष्य आप देखते हैं, जो मनुष्योंमें पुण्यात्मा-पापी, धनी-दरिद्र आपको दीखते हैं, वे सब आप ही हैं या नहीं? लेकिन स्वप्न देखते समय जिस रूपको आपने अपना 'मैं' माना है, जो आप स्वप्नद्रष्टा बने हैं, उसका सुख-दुःख, मानापमान तो आपको हर्षित या दुःखी करता है; किन्तु स्वप्नमें जो एक चोर पीटा जाता है, उसके पीटे जानेकी पीड़ा आपको होती है? यद्यपि यह निर्विवाद है कि वह चोर और उसे पीटने वालोंका रूप भी आपका मन ही वहाँ बना है।

इस संसारमें एक स्थूल शरीरको सब भावसे-सम्पूर्ण रूपसे अपना 'मैं' स्वीकार कर लिया तो यह हो गया जन्म और किसी कारणसे किसी दूसरे देहमें अपना सम्पूर्ण अभिनिवेश हो गया, यह शरीर सर्वथा विस्मृत हो गया तो यह हो गयी मृत्यु। जिन बालकोंको पूर्वजन्मका स्मरण रहता है, वे कहाँ नवीन देहके नाम कुल आदिको सरलतासे स्वीकार करते हैं। वे तो अपने पहले नाम तथा गृह परिवारमें ही आग्रह रखना चाहते हैं। नवीन जन्मके शरीरमें जैसे-जैसे उनका अभिनिवेश बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे पूर्वस्मृति भूलती जाती है। कहना चाहिए कि इस विस्मृतिके क्रमसे वस्तुतः उनकी पूर्वजन्मकी मृत्यु एवं नवीन जन्म सम्यक् पूर्ण होता है।

चेतन पुरुष

'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।'

-गीता १३/१

इस क्षेत्रको-शरीर (स्थूल-सूक्ष्म समस्त शरीर) को जो जानता है, उसको जानने वाले उसे क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

आप जिसे जीव कहते हैं और जो तपस्यासे या वैज्ञानिक प्रयोगशालामें बन सकता है, वह तो चेतनायुक्त सूक्ष्म शरीर है और प्राकृत-तत्त्व है। इसको जो जानता है वह क्षेत्रज्ञ चेतन-पुरुष है और वह निर्विकार है। उसका धर्म कुछ करना नहीं है। उसका धर्म जानना मात्र है।

'कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥'

-गीता १३/२०

कार्यके सम्पन्न होनेमें, उसके उपकरणोंमें और उसके कर्तापनमें प्रकृति कारण कही जाती है। कर्तृत्वका अहंकार, कार्यको सम्पन्न करने वाली इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण और कार्य, ये सब प्रकृतिके क्षेत्रमें- प्रकृतिके द्वारा होते हैं। पुरुष केवल सुख-दुःखके भोगमें कारण कहा जाता है।

पुरुष जब कर्ता नहीं है, तब वह सुख-दुःखका भोक्ता क्यों है? इसलिए कि वह ज्ञाता है और कर्ताके साथ उसने तादात्म्य कर लिया है। उसका अपना स्वरूप तो ज्ञाता ही है। यदि कर्ताको-स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरको वह अपना 'मैं' न माने

तो उसे सुख-दुःख नहीं होगा। जैसे हम किसी दूसरेको कर्म करते और सुखी या दुखी होते देखते हैं तो वहाँ हमको उसके कार्यका तथा सुख-दुःखका ज्ञान होता है। जैसे स्वप्नमें चोर, चोरके दुःखी होनेका ज्ञान हमें होता है; किन्तु उस चोरके रूपमें तादात्म्य न होनेसे वह दुःख हमें नहीं होता।

ज्ञान ही सुख-दुःखका माध्यम है। आप मूर्छित कर दिये जाते हैं तो शरीरके काटनेसे भी आपको पीड़ा नहीं होती। कोई गाली दे या स्तुति करे, जब तक यह पता न लगे कि मुझे यह कहा जा रहा है, तब तक उस गालीसे दुःख या स्तुतिसे सुख नहीं होगा। शरीर खाता-छूता-सूँघता है, केवल आपको बोध होता है कि वह आपको मिला इससे सुख या दुःख आपको होता है। चेतन-पुरुष केवल ज्ञाता है। सुख-दुःख उसमें है नहीं, देहमें तादात्म्यके कारण वह सुख-दुःखमें कारण होता है।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।'

-गीता १३/२

अर्जुन! सब क्षेत्रोंमें (देहोंमें) क्षेत्रज्ञ (चेतन-पुरुष) मुझे ही समझो।

सब क्षेत्रोंमें जो क्षेत्रज्ञ-चेतन-पुरुष है, वह तो श्रीकृष्ण कहते हैं कि 'मैं ही हूँ' इसका तात्पर्य आप निकाल सकते हैं कि वह उनसे अभिन्न है। यह चेतन-पुरुष अविनाशी है और जिसकी मृत्यु नहीं है, उसका जन्म भी नहीं हो सकता। क्योंकि—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' *(गीता २/२७)*

यह चेतन पुरुष अविनाशी हैं, यह बात भी हमें गीता ही बतलाती है—

'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।'

(गीता- १५/१६)

सम्पूर्ण प्राणी-समस्त भौतिक निर्माणक्षर हैं। इनमें जो कूटस्थ है, उसे अक्षर-अविनाशी कहा जाता है।

बात बहुत सीधी है कि किसीको सूर्यका प्रतिबिम्ब बनाना नहीं पड़ता और न बनानेसे वह बन सकता; किन्तु आप दिनमें खुले आकाशमें कहीं भी उपयुक्त माध्यम बना दें तो प्रतिबिम्ब स्वयं उसमें पड़ने लगेगा। आपको एक बर्तनमें पानी या एक दर्पण केवल खुली धूपमें रख देना है। आप जैसे माध्यम रखेंगे उसमें वैसा प्रतिबिम्ब पड़ने लगेगा।

जगतमें जीव चेतन-पुरुष नहीं हैं, जीवाभास हैं। भगवान्‌के नित्य-दिव्यलोकोंके नित्य परिकरोंका प्रतिबिम्ब मात्र ही यहाँ पड़ता है। यह बात अन्यत्र विस्तारसे समझायी गयी है। प्रतिबिम्ब ग्रहणके लिए तो उपयुक्त माध्यम मात्र चाहिए और माध्यम घड़ा-दर्पण आदि भौतिक पदार्थ हैं। उन्हें मनुष्य बना सकता है।

मकान मनुष्य बनाता है। कारीगर एक-एक ईंट जोड़कर भवन निर्माण करते हैं; किन्तु मकान बन जाता है तो उसमें उसका अधिदेवता आ जाता है, यह हमारे शास्त्र कहते हैं। उस अधिदेवताकी पूजा की जाती है। उसे प्रसन्न रखनेसे मकानके निवासी सुख-सम्मान सम्पत्ति एवं शान्ति पाते हैं। यह शरीर भी एक मकान ही है। माताके गर्भमें इसका निर्माण होता है। यह बनने लगता है और जब बनकर पूर्ण होता है, जीव इसमें प्रवेश करता है। जीव कोई शरीरका एक जीवाणु नहीं है। पूरे शरीरमें व्यापक चेतनाका नाम जीव है। अब यह शरीर माताके उदरमें बने या रसायनशालाके यन्त्रोंमें, इसमें अन्तर क्या पड़ता है। जिस जीवके प्रारब्धभोगके उपयुक्त शरीर बनेगा, वह अपने प्रारब्धसे प्रेरित उसमें प्रवेश कर लेगा।

चेतन सर्व-व्यापक है। जहाँ भी उपयुक्त परिस्थिति निर्मित कर दी जायेगी, वहाँ वह व्यक्त हो जायेगा। जैसे जहाँ खुली धूपमें आप दर्पण रखेंगे, वहाँ उसमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ने लगेगा।

जीव अनन्त हैं और उनके प्रारब्ध अनन्त हैं। जैसे जीवका प्रारब्ध ही पिता-माताको शारीरिक संयोगके लिए प्रेरित करता है और अपने गर्भमें आनेकी उपयुक्त परिस्थिति बनाता है, वैसे ही जीवका प्रारब्ध अयोनिज जन्मका है तो वह वैज्ञानिकको रसायन-शालामें वैसे प्रयोग करनेको प्रेरित करेगा और उस प्रयोगको सफलता देगा। सूक्ष्म शरीर तो अपने प्रारब्धभोगसे प्रेरित ही आवेगा और जहाँ तक चेतन पुरुषकी बात है, वह तो सूक्ष्म शरीरमें द्रष्टा रूपसे स्थित है ही।

जीवका देहमें स्थान

स्थूल शरीरमें चेतनायुक्त सूक्ष्म शरीर जिसे जीव कहा जाता है, कहाँ रहता है? कुछ लोग उसका स्थान हृदयमें मानते हैं और कुछ मस्तिष्कमें। कुछ अणु मानते हैं उसे, कुछ अंगुष्ठ परिणाम और कुछ पूरे देहमें व्यापक मानते हैं, वे यह

भी मानते हैं कि उसका अपना आकार तो केशाग्रके लाखवें भागके समान सूक्ष्म है; किन्तु स्थूल देहके आकारमें फैलनेकी तथा सिकुड़नेकी उसमें शक्ति है। मान लें कि किसीका हाथ कट गया तो सूक्ष्म देह कटेगा नहीं। वह सिकुड़ जायेगा।

जो लोग हृदयमें जीवका निवास मानते हैं, उनके सामने भी प्रश्न है कि शरीरमें हृदय कहाँ है? यह जो रक्तसे भरा धड़कने वाला शरीरका अंग है, वह हृदय नहीं है। हृदय वह है जहाँ सुख-दु:ख होता है। जहाँ भावनाएँ बनती-मिटती हैं। यह हृदय तो शरीरमें व्यापक लगता है। मान लीजिए कि मेरा हाथ या पैर कल कट जाय और अलग होकर सड़ जाय। उसमें हजारों कीड़े पड़ेंगे। उन सबका हृदय होगा या नहीं?

शरीरके रक्त फेंकने वाले जिस यन्त्रको हृदय कहा जाता है, उसे तो आज चिकित्सक परिवर्तित करने लगे हैं। सम्भव है-कुछ कालमें मस्तिष्क भी किसी प्रकार परिवर्तित होने लगे। स्थूल शरीरके किसी अंगको आप हृदय कहेंगे तो डाक्टर उसे बनाकर दिखा देंगे। मानना यही पड़ेगा कि सूक्ष्म शरीरमें हृदय (अन्त:करण) होता है और वह सूक्ष्म-शरीर आकुञ्चन प्रसारणधर्मा तथा पूरे स्थूल देहमें व्यापक होता है। यही सूक्ष्म-शरीर लोकलोकान्तरमें जाने वाला है। यही जन्म-मृत्युका अनुभव करने वाला है।

पुरुषोत्तम

मोक्ष अर्थात् जन्म-मृत्युसे छुटकारा किसका होगा? जो जन्म-मृत्युमें नहीं है, उस आत्माका तो होना नहीं है। यह छुटकारा होता है जीवका, अर्थात् सूक्ष्म शरीरके संघातमें जो संघातज चेतना है, उसका। यह तब हो जब सूक्ष्म शरीरकी मृत्यु हो। इसकी मृत्यु सम्भव है; क्योंकि रसायनशालामें जिसका निर्माण सम्भव है, उसका विनाश भी सम्भव ही होना चाहिए। यह कैसे सम्भव हो? क्या यह सम्भव है कि सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ना बन्द हो जाय? आप एक घड़ा या दर्पण फोड़ दे सकते हैं; किन्तु न घड़े बनने बन्द होंगे और न दर्पण ही। जो चेतना रसायनशालामें बन सकती है, वह एक नष्ट होगी तो दूसरी बनेगी। इसलिए श्रुतिने कहा—

'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

ज्ञानके बिना मोक्ष नहीं होता। यह समझदारी अपनी चाहिए कि घड़ेका पानी रंगीन हो या स्वच्छ, दर्पण स्थिर हो या हिलता-डुलता हो। इनमें पड़नेवाला

प्रतिबिम्ब भले रंगीन दीखे, भले हिले-डुले, इससे बिम्बका, सूर्यका कुछ बनता बिगड़ता नहीं है। प्रतिबिम्बका अपने बिम्बका ज्ञान हो जाय तो फिर प्रतिबिम्बमें जो आधारके कारण आये दोष हैं, उनसे वह निरपेक्ष हो जाता है। चेतन-पुरुष इस देहमें तादात्म्यके कारण ही तो सुख-दुःखके भोक्तृत्वमें हेतु है। यह तादातम्य मिटा और वह तो तटस्थ द्रष्टानित्य मुक्त है ही।

यह कैसे हो? प्रतिबिम्बको अपने बिम्बका बोध कैसे प्राप्त हो? इसका उपाय भी गीता ही बतलाती है-

'जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥'

(गीता- ४/९)

अर्जुन! इस प्रकार जो तत्त्वसे मेरे दिव्य जन्म और कर्मको जानता है, वह शरीर त्यागकर पुनर्जन्मको नहीं प्राप्त होता। वह मेरे समीप आ जाता है।

श्रीकृष्णाके जन्म-कर्मको तत्त्वतः जानना क्या?

'न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते॥'

(गीता-४/१४)

मुझे कर्म लिप्त नहीं होते; क्योंकि किसी कर्मका फल पानेकी इच्छा मुझमें नहीं है। इस रूपमें जो मुझे जानता है, उसे कर्मका बन्धन नहीं होता। कोई फलस्पृहा नहीं; किन्तु फिर भी वह आत्माराम, आप्तकाम, भक्त-वत्सल भक्तोंके भाववश होकर अपने नित्य लोकमें नाना रूपोंसे कैसे क्रीड़ा करता है और कैसे भक्त भाववश होकर अवतार धारण करता है तथा कैसे वह सामान्य प्राणी जैसे अभिनय करता है, इन बातोंको जो तत्त्वतः जानेगा, उसका हृदय उस भक्तवत्सलमें लगा ही रहेगा। उसे अपने नित्य-स्वरूपका बोध अवश्य होगा। उसे कर्मके बन्धन नहीं होंगे। वह तो उस भक्तवत्सलके समीप ही जायेगा।

'यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥'

(गीता- १५/१८)

क्योंकि मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ, अतः लोक और वेदमें भी पुरुषोत्तम प्रसिद्ध हूँ।

क्षरसे-क्षेत्रसे अर्थात् स्थूल जगतसे और सूक्ष्म शरीर तथा उसमें स्थित संघातज चेतनासे तो वह अतीत-असंस्पृष्ट है; किन्तु अक्षरसे-क्षेत्रज्ञसे अतीत नहीं है। उससे असंस्पृष्ट नहीं है। उस क्षेत्रज्ञ पुरुषसे वह उत्तम है। क्षेत्रज्ञकी सम्पूर्ण रक्षा-भरण करने वाला, क्षेत्रज्ञ पुरुषका नित्य सखा है वह पुरुषोत्तम। जो उस पुरुषोत्तमको जान लेता है, वह उसका भजन करता ही है और यह भजन उसे आवागमनसे मुक्त कर देता है।

●●

सिद्धिका तत्व

'कायेन्द्रियसिद्धिरः शुद्धिक्षयात्तपसः।'

-योगदर्शन

शरीर और इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखनेवाली सिद्धियाँ तपस्यासे प्राप्त होती हैं; क्योंकि तपस्यासे शरीर एवं इन्द्रियोंकी अशुद्धि नष्ट हो जाती है।

आजके विज्ञानके लिए सिद्धियोंको समझना कठिन ही नहीं, असम्भव है। पिछले दिनों एक योगीने पानीपर चलनेका बम्बईमें प्रदर्शन करना चाहा और वे असफल हुए। इसको लेकर पत्र-पत्रिकाओंमें जो कुछ निकला, उससे आजके विद्वद्वर्गका मनोभाव समझा जा सकता है। एक विद्वानने यह हिसाब दिया था कि मनुष्यके शरीरके घनत्वका भार और उस शरीरके नीचे पहले पड़ने वाले जलके घनत्वका भार कितना है। उनका कहना था कि 'खड़े मनुष्यके पैरोंके नीचे जलका भार थोड़ा है और शरीरका भार बहुत है, अतः शरीरका जलमें डूबना निश्चित है।'

जहाँ तक पदार्थ-विज्ञानकी बात है, उन विद्वानका मत सर्वथा संतुलित है; किन्तु इस तर्कसे मनुष्यका बिना यन्त्रकी सहायताके आकाशमार्गसे चलना तो और अधिक अशक्य है। इसी प्रकार अणिमा, महिमा, लघिमा या गरिमा जैसी सिद्धियोंको विज्ञान कोरी गप्पबाजी कहेगा; क्योंकि शरीरकी अस्थियाँ वर्तमान शरीर-विज्ञानके अनुसार घटने-बढ़ने वाली नहीं हैं। साथ ही शरीरके वजनको कम-से-कम अस्थियोंके वजन तक तो रहना ही होगा। उससे कम नहीं किया जा

सकता। वजनको बहुत अधिक और कुछ क्षणोंमें बढ़ाया जा सकता है, यह भी विज्ञान स्वीकार नहीं कर सकता।

पदार्थ-विज्ञानकी दृष्टिसे ये बातें सच हैं। विज्ञानके परीक्षणकी कसौटीपर सिद्धियोंको परखा नहीं जा सकता और न उनका कोई उचित वैज्ञानिक कारण दिया जा सकता। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि सिद्धियाँ होती हैं। उनका जो वर्णन पुराणोंमें तथा तन्त्रादि ग्रन्थोंमें है, वह उतना ही सत्य है; जितने सत्य विज्ञानके सुपरीक्षित नियम हैं अपने बचपनमें मैंने स्वयं एक साधुको देखा था कि वे भीड़के साथ संकीर्तन करते-करते छोटे होने लगते थे और उनका शरीर तीन वर्षके बच्चे के बराबर हो जाता था। फिर वे धीरे-धीरे बढ़ने लगते और स्वाभाविक आकारके हो जाते थे। पता नहीं वे अब कहीं जीवित भी हैं या नहीं।

अब प्रश्न आता है कि विज्ञानके नियम भी ठीक हैं और सिद्धियाँ भी ठीक हैं, यह दोनों बातें कैसे ठीक हो सकती हैं?

दोनों बातें यों ठीक हैं कि सामान्य रूपसे पदार्थ-विज्ञान ठीक है। मनुष्यका व्यवहार पदार्थ-विज्ञानके अनुसार ही चलता है- चल सकता है। अतः सामान्य समाजके लिए विज्ञान जो कहता है, वही सत्य है। लेकिन कुछ ऐसे तथ्य हैं जो विज्ञानके क्षेत्रमें नहीं आते। विज्ञानकी कसौटी उनके लिए बहुत छोटी पड़ती है। ये विशेष तथ्य विशिष्ट लोगोंके ही लिए उपयोगी और व्यावहारिक है। आज विज्ञानके लोगोंके लिए भी दूर-श्रवण एवं दूरानुभूति एक समस्या बन गयी है और उसके उदाहरण इतने मिलने लगे हैं कि सोवियत-संघ जैसा सर्वथा पदार्थवादी राष्ट्र भी परीक्षण करनेको विवश हो गया है। सिद्धियोंका तथ्य भी ऐसा ही तथ्य है।

आस्थावान् हिन्दूके लिए सिद्धियाँ न अशक्य लगती हैं और न केवल कल्पित वर्णन। यह दूसरी बात है कि वह उनके लिए कोई तर्क-संगत समाधान न दे सके। तर्क-संगत समाधान पदार्थ-विज्ञानको ध्रुव-सत्य मानकर कोई है भी नहीं; क्योंकि पदार्थ-विज्ञानका ध्रुव-सत्य स्वयंमें ही असत्य है।

जगत्के मूलमें जड़सत्ता ही होती तो पदार्थ-विज्ञान ध्रुव-सत्य होता; किन्तु जगत्का मूल कारण चेतन है। उस चेतन परमात्माके संकल्पसे ही सृष्टि हुई है। यह समस्त जड़-जगत् जो हमको दीख रहा है, चेतनके संकल्पसे ही प्रगट हुआ है। सभी धर्म जो ईश्वरको मानते हैं, सृष्टिके मूल कारण रूपमें ईश्वरका संकल्प भी मानते हैं।

सृष्टि संकल्पसे हुई है तो संकल्प उसमें परिवर्तन भी कर सकता है। प्रबल मानस सृष्टिकर्ताके संकल्पसे तादात्म्यापन्न होकर सृष्टिके दृश्य रूपमें यथेच्छ परिवर्तन सहज ही कर दे सकता है।

पदार्थ-विज्ञानके इस युगके परमाचार्य आइन्स्टीनने अपने सापेक्षवादकी व्याख्यामें बतलाया है कि 'पदार्थकी लम्बाई-चौड़ाई तथा भार ही नहीं, देश और काल भी गति-सापेक्ष है। गति में परिवर्तन करके इन सबमें परिवर्तन किया जा सकता है।

पदार्थ-विज्ञान आज मानने लगा है कि परमाणुओंमें स्थित एलोक्ट्रोनोंकी संख्या यदि घटाई-बढ़ाई जा सके तो किसी पदार्थको दूसरे पदार्थमें परिवर्तित किया जा सकता है और इससे पदार्थका रूप, गुण, भार आदि सब परिवर्तित हो जायेगा। अब यह कार्य दूरका स्वप्न नहीं रहा है। विज्ञान इसे निकट भविष्यमें ही सुगम कर लेगा।

चेतनवादी आस्तिकवर्ग इसमें इतना ही कहता है कि पदार्थके रूप, गुण, भार आदि जिस गतिकी अपेक्षासे हैं, वह गति मूलतः जड़ नहीं है। वह चेतनके संकल्पकी गति है। अत: चेतनका संकल्प पदार्थमें वैसे ही यथेच्छ परिवर्तन कर सकता है, जैसे एलेक्ट्रोनोंकी घटा-बढ़ीसे सम्भाव्य माने जाते हैं। इसमें अन्तर इतना अवश्य है कि संकल्पशक्तिका वेग अकल्प्य है और उसे बाह्य उपकरण अपेक्षित नहीं है। अतः संकल्पसे होने वाले परिवर्तन क्षणोंमें होंगे। बिना किसी मन्त्रकी सहायताके होंगे और पूर्ण होंगे।

सिद्धिका अर्थ है संकल्पशक्तिका असामान्य विकास। समस्त सिद्धियाँ मनसे सम्बन्ध रखती हैं। मनकी शक्तिका विकास करके ही वे कार्य सम्पन्न होते हैं। अतः यह बात यदि समझमें आ जाय कि जगत्के स्थूल पदार्थोंका मूल संकल्प है और ये पदार्थ भी वस्तुतः मानसिक ही है तो इनमें मनके संकल्पसे परिवर्तन होनेकी बात भी समझमें आ जायेगी। सिद्धियाँ कैसे मिलती हैं? इसके उत्तरमें कहा गया है—

'जन्मौषधि तपो मन्त्रसमाधिजा सिद्धयः।'

-योगदर्शन

कुछ लोगोंको जन्मसे ही कोई विशेष सिद्धि प्राप्त है। आजकल ऐसे लोग मिलते हैं जिन्हें दूर श्रवण अथवा दूरानुभूतिकी सिद्धि प्राप्त है। पत्रोंमें

कभी-कभी दूसरेके मनकी बात बतला देने वाले लोगोंके वर्णन भी मिलते हैं। जन्मसे कोई अणिमादि सिद्धियोंसे सम्पन्न हो, ऐसे वर्णन अब तो नहीं मिलते; किन्तु पुराणोंमें ऐसे लोगोंके पर्याप्त वर्णन हैं।

कुछ सिद्धियाँ औषधि-प्रयोगसे मिलती हैं। विज्ञानके सभी आविष्कार इस श्रेणीमें आ जाते हैं। ग्रन्थोंमें पारदके प्रयोगसे दीर्घायु-प्राप्ति (अमरत्व) तथा कार्य सिद्धिके वर्णन भी मिलते हैं। जीव-विज्ञान तथा रसायन-विज्ञान भी इस दिशामें प्रयोग कर रहा है और वैज्ञानिकोंको विश्वास है कि वे बुढ़ापेपर विजय प्राप्त कर लेंगे। मृत्युको टाला न भी जा सके तो आयुको बहुत लम्बी अवश्य किया जा सकेगा।

तपस्यासे शरीर एवं इन्द्रियोंकी अशुद्धि मिट जानेपर शरीर तथा इन्द्रियोंसे सम्बन्ध रखने वाली सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। महर्षि विश्वामित्र तपोबलसे दूसरी सृष्टि तक बनानेमें सक्षम हो गये थे। महाभारतमें महर्षि लोमशका वर्णन है कि पांडवोंके साथ तीर्थयात्रामें थे और अपने तपोबलसे ही आकाशमें इच्छानुसार चलते थे।

मन्त्रका अर्थ है शब्द शक्ति। इस शक्तिका जितना विस्तृत ज्ञान पहले भारतमें था, अब उतना ही इससे मनुष्य अपरिचित हो गया है। पञ्चतत्वोंमें सबसे सूक्ष्म आकाश है। आकाशका गुण है शब्द। अब तो परमाणु-भौतिकीने सिद्ध कर दिया है कि जो वस्तु जितनी सूक्ष्म है, उसमें उतनी अधिक शक्ति है। शब्दकी शक्ति समस्त स्थूल पदार्थोंसे अधिक है। अतः शब्दकी उस शक्तिका प्रयोग ठीक ढंगसे आवे तो स्थूल जगत्में अभीष्ट परिवर्तन कर लेना अशक्य नहीं है। मन्त्र-प्रयोग एवं मन्त्रज सिद्धियोंके वर्णन ग्रन्थोंमें बहुत अधिक हैं। मन्त्र प्रयोगसे छोटे-मोटे चमत्कार तो अब भी होते देखे गये हैं।

समाधिसे अर्थात् मनकी एकाग्रतासे होने वाली सिद्धि ही सबसे महान् सिद्धियाँ हैं; क्योंकि जगत्के मूलमें सृष्टिकर्ताका संकल्प ही है। मनकी एकाग्रता सृष्टिकर्ताके विभिन्न संकल्पोंसे तादात्म्य स्थापित कर दे सकती है। इस प्रकार संसारमें सबसे बड़े परिवर्तन मनकी एकाग्रतासे प्राप्त सिद्धियोंसे ही सम्भव है। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि तपस्यासे भी मनकी एकाग्रता सम्पन्न होती है। अतः तपस्वीकी सिद्धियोंका जहाँ उल्लेख है, वहाँ तपके साथ एकाग्रता भी उस सिद्धिमें कारण है, ऐसा मानना चाहिए।

सिद्धियोंके सम्बन्धमें दो तथ्य अवश्य ध्यानमें रखने योग्य है-१. संसारमें सब बल-सापेक्ष होते हैं। तलवारमें गर्दन काट देनेकी योग्यता है और आपके

शरीरमें बल है। आपके हाथमें तलवार है; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आप संसारके सब लोगोंकी गर्दन काट दे सकते हैं। आपसे बलवान् लोग भी संसारमें हैं और उनके पास तलवार ही नहीं, बन्दूक, तोप तथा दूसरे आयुध भी हैं। साथ ही प्रशासन है। आप तलवारका दुरुपयोग करने लगेंगे तो भले आपने बड़े परिश्रमसे और न्यायपूर्वक प्राप्त धनसे तलवार खरीदी हो, वह आपसे छीन ली जायेगी और आपको तलवारके दुरुपयोगका दण्ड भोगना होगा।

सिद्धियोंके सम्बन्धमें भी यही बात है विश्वमें आपसे भी सबल लोग हैं और विश्व-नियन्ता तो है ही। जब कोई सिद्धिका दुरुपयोग करने लगता है तो अपनेसे सबलसे टकरानेपर पराजित हो सकता है। चोट खा सकता है। सिद्धि छीन ली जा सकती है। उसे सिद्धिके दुरुपयोगके लिए दण्डित होना पड़ सकता है।

२. सभी सिद्धियोंको पारमार्थिक उन्नतिमें 'अन्तराय-विघ्न' कहा गया है। सिद्धि स्वीकार कर लेनेपर पारमार्थिक उन्नति अवरुद्ध हो जाती है।

उन महात्माका शरीर छूटे कई वर्ष हो गये। सन् ३६ या ३७ में मैं उनके दर्शन करने गया था। वे कई चमत्कार सहजभावसे दिखलाया करते थे। उन्होंने मुझे भी एक-दो चमत्कार दिखलाये। उपदेश करनेकी प्रार्थनापर उनके नेत्र भर आये। उन्होंने कहा-'बेटे! अभी तू बच्चा है, अतः मेरी एक बात स्मरण रखना। जीवनमें एक बार भी जान-बूझकर सिद्धिका प्रयोग कर लेनेपर फिर उस देहसे मुक्त होना सम्भव नहीं रह जाता। सब सिद्धिका प्रयोग अहंकार-देहाभिमानकी स्वीकृति देकर ही होता है। फलतः यदि उसके पश्चात् ज्ञान हो भी जाय तो सद्योमुक्ति या विदेहमुक्ति नहीं होती। फिर तो सिद्धिलोकमें जाकर वहाँ रहना ही पड़ेगा। उसका ज्ञान उसे कल्पान्तमें मुक्त करेगा। मैंने तो अज्ञानवश यह जीवन खो दिया। इन चमत्कारोंके लोभमें पड़ कर। तू इधरसे सावधान रहना।'

साधकके लिए सिद्धियाँ कितनी बड़ी बाधाएँ हैं, यह बात उन महापुरुषकी वाणीने बहुत स्पष्ट कर दिया है।

अब यहाँ पाठकोंके कुतूहलकी शान्तिके लिए पुराणवर्णित सिद्धियों तथा उनकी प्राप्तिके साधनोंकी एक संक्षिप्त तालिका दी जा रही है।

मुख्य सिद्धियाँ २८ हैं। इनमें से पहली आठ प्रधान रूपसे भगवान्में ही रहती हैं। जीवको वे आंशिक रूपसे ही प्राप्त होती हैं। जैसे ईशित्व सिद्धिमें जीवको समस्त विश्वका सञ्चालन नहीं प्राप्त हो सकता। वह जीवविशेषको या पदार्थ-विशेषको एक सीमित समय तक ही नियन्त्रित कर सकता है।

सिद्धि	स्वरूप	साधन
१. अणिमा	अपने आकारको बहुत छोटा कर लेना।	भूतसूक्ष्म अर्थात् तन्मात्राओंमें मनको एकाग्र करनेसे।
२. महिमा	अपने शरीरको बहुत बड़ा कर लेना।*	महाभूतोंमें पृथक्-पृथक् मनको एकाग्र करनेसे।
३. लघिमा	अपनेको अत्यन्त हल्का कर लेना।	चित्तको परमाणु तथा परमाणु-कालमें एकाग्र करनेसे।
४. गरिमा	अपने को अत्यन्त भारी कर लेना।	चित्तको महत्तत्त्वमें एकाग्र करनेसे।
५. प्राप्ति	किसी भी इन्द्रियकी शक्तिको निर्बाध प्राप्त करना।	चित्तको वैकारिक अहंकार तत्त्वमें एकाग्र करनेसे।
६. प्राकाम्य	जो भी कामना हो, वह पूरी हो जाय।	सूत्रात्मा सहित महत्तत्त्वमें मनकी एकाग्रतासे।
७. ईशित्व	प्रकृति एवं जीव दोनोंको शासित करनेकी सामर्थ्य।	तीनों लोकोंके स्वामी सर्वव्यापक कालतत्त्वमें चित्तकी एकाग्रता से।
८. वशित्व	जड़-चेतन सबको अपने वशमें रख सकना।	तुरीयतत्त्व निखिल ऐश्वर्यके धाम श्रीनारायणमें चित्त एकाग्र करनेसे।
९. कामावसान	अपने या अन्यके चित्तमें कामना ही न उठने देना।	निर्गुण परमब्रह्ममें अन्तःकरणके तादात्म्यसे।

* ये आठ सिद्धियाँ भगवान्में स्वरूपसे एवं सम्पूर्णतया निवास करती हैं। भगवान्के अवतारोंमें ये सहज भावसे रहती हैं। जीवमें ये आंशिक रूपसे ही साधनके द्वारा आती हैं और सदा अल्पकालिका रहती हैं।

१०. अनूर्मिमत्व	शरीरमें रोग तथा बुढ़ापा न आना।	स्वेतद्वीपपति शुल्कवर्ण नारायणमें मन एकाग्र करनेसे।
११. दूर-श्रवण	चाहे जितनी दूरकी लोकान्तरकी भी बात सुन लेना।	आकाशमें मनको एकाग्र करके उसे शब्दतन्मात्रामें स्थिर करनेसे।
१२. दूर-दर्शन	इस लोक एवं अन्य लोकोंके पदार्थ देख लेना।	नेत्र सूर्यपर स्थिर करके, सूर्य-मण्डलके देवताको नेत्र में स्थिर करके ध्यान करनेसे।
१३. मनोजव	मनके वेगसे कहीं चले जाना।	मनको पहले परमात्मामें स्थिर करके पञ्चप्राणोंका चिन्तन करे। फिर जिस स्थानका चिन्तन करेगा वहाँ पहुँच जाएगा?
१४. कामरूप	जैसी इच्छा हो वैसा रूप बना लेना।	जो रूप धारण करना है, उस रूपमें अपने मनका पूर्ण तादात्म्य कर देनेसे।
१५. परकाय प्रवेश	किसी दूसरे शरीरमें प्रवेश कर लेना।	जिस शरीरमें जाना है, अपना सूक्ष्म देह वहाँ पहुँच गया-इस दृढ़ भावनासे।
१६. स्वच्छन्दमृत्यु	इच्छानुसार देहत्याग।	पैरोंकी एड़ियोंसे मल एवं मूत्र-मार्ग बन्द करके वायुको मूलाधारसे क्रमशः भ्रूमध्य तक ले आकर ब्रह्मरन्ध्रके द्वारा निकाल दे।
१७. देव-क्रीड़ा	देवताओंके साथ विचरण।	सत्त्वगुणस्वरूप भगवान्में मनको स्थिर करे तब अपनेको स्वर्गमें जानेकी भावना करनेसे।

१८. संकल्पसिद्धि	जो संकल्प करे, वह पूरा हो जाय।	सत्यस्वरूप भगवान्में मनकी एकाग्रता तथा सत्यका पूर्ण पालन करनेसे। * इन सिद्धियोंके अवान्तर भेदके रूपमें कुछ सिद्धियाँ और मानी जाती हैं।
१९. अप्रतिहताज्ञा	कोई उसकी आज्ञा न टाल सके।	ईशित्व और वशित्व दोनों सिद्धियाँ जिन्हें प्राप्त हैं, यह सिद्धि उन्हें सहज प्राप्त होती है ।
२०. त्रिकाल-ज्ञान	भूत-भविष्य-वर्तमानकाल तथा जन्म-मृत्युका भी ज्ञान।	शुद्धान्तःकरण हो जानेपर जो कुछ जाननेके लिए चित्त एकाग्र किया जायगा उसका ज्ञान हो जायेगा।
२१. अग्नि, विष, जलादिका स्तम्भन।	अग्नि, जल, वायु तथा विष, शस्त्रादिका देहपर प्रभाव न पड़े।	योग तथा तपके साधनोंसे पञ्च-भौतिक देह-शुद्ध हो जाता है, तब इनका प्रभाव नहीं होता।
२२. अपराजिता	कोई पराजित न कर सके।	भगवान् नारायणके श्रीवत्स, शंख, चक्र, गदा, ध्वज, छत्रादि विभूतियों युक्त रूपका ध्यान करनेसे।
२३. नक्षत्रज्ञान	समस्त तारामंडलका ज्ञान	चन्द्रमापर दृष्टि एकाग्र करके वहाँ मनका संयम करनेसे।
२४. कायव्यूहत्व	अनेक शरीर धारण करनेकी शक्ति।	नाभिचक्रमें मनके संयमसे।
२५. क्षुत्पिपासाजय	भूख-प्यास न लगना।	कण्ठकूपमें मनके संयमसे।
२६. चित्तस्थैर्य	चित्त चञ्चल न होना।	कूर्मनाड़ीमें मनके संयमसे।
२७. सिद्धदर्शन	अन्तरिक्षचारी देवता, भूत, सिद्धादिको देखना।	मूर्धामें ज्योतिका ध्यान करनेसे।
२८. परचित्तज्ञान	दूसरेके मनकी बात जान लेना।	हृदयमें चित्तकी एकाग्रता से।

श्रीसुदर्शनसिंह 'चक्र'

जन्म—दिनांक १४ नवम्बर १९११ ई०, स्थान—ग्राम भेलहटा, चन्दौली तहसील, वाराणसी।

शिक्षा—स्कूली नियमित शिक्षा सातवीं तक। स्वाध्यायसे हिन्दी साहित्य, संस्कृत, गुजराती एवं बंगला भाषा और साहित्यका ज्ञानार्जन किया ।

कार्य—सन् १९३७ से १९४१ ई० तक मासिक पत्रिका 'संकीर्तन', मेरठ का सम्पादन।

सन् १९४० से १९७२ तक मानसमणि (मासिक पत्रिका) रामवन, सतना का सम्पादन।

सन् १९६९ से १९७२ तक 'विवेक रश्मि' (मासिक), परमार्थ आश्रम, हरिद्वारका सम्पादन।

सन् १९७५ से १९८९ (अन्तिम समय तक) 'श्रीकृष्ण-संदेश' श्रीकृष्ण-जन्मस्थान, मथुराका सम्पादन। 'कल्याण' गीताप्रेस, गोरखपुरके हिन्दू-संस्कृति अंक, भक्त चरितांक, बालकांक, सन्तवाणी अंक, सत्कथा अंक, तीर्थांक, मानवता अंक, भगवन्नाम-महिमा और प्रार्थना-अंक, धर्मांक, श्रीरामवचनामृतांक इत्यादिका गोलोकवासी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके स्नेहपूर्ण आग्रहपर सम्पादन-सहायता दी।

ग्रन्थ—जरठ जटायु, महात्मा बाली, श्रीरामचरित-मानसमें विवेकी विभीषण, श्रीरामचरित-मानसमें सचिव सुमन्त्र, श्रीभगवन्नाम कीर्तन, दिव्य दशमी, मानस मंदाकिनी (तीन खण्डोंमें), विधाता विश्वामित्र, ब्रह्मर्षि वशिष्ठ, श्रीहनुमान-चरित, देवर्षि नारद, शत्रुघ्नकुमार, माता सुमित्रा, नव निर्झरिणी, अष्टदल, नूतन नवरत्न, जीवन-निर्माण, प्रभु आवत, मानसके अनुष्ठान, राक्षसराज, साधन- सोपान, मानसके मंगलाचरण, भगवान् वासुदेव, श्रीद्वारिकाधीश, पार्थ-सारथि, नन्दनन्दन, श्रीराम-चरित (चार खण्डोंमें) आंजनेयकी आत्मकथा, शत्रुघ्नकुमारकी आत्मकथा, हमारी संस्कृति, राम-श्यामकी झाँकी, सखाओंका कन्हैया, श्यामका स्वभाव, हमारे धर्मग्रन्थ, कर्म-रहस्य, आपकी चर्चा, पुराण विज्ञान और रहस्य, कन्हाई, शिव-चरित, मजेदार कहानियाँ, कल्कि-अवतार, भगवान् वामन, गोलोक एक परिवार, श्रीकृष्ण सर्वरूप, साध्य और साधन, उन्मादिनी यशोदा, शिव-स्मरण, हमारे अवतार एवं देवी देवता, हिन्दुओंके तीर्थस्थान, ज्ञान-गंगा, भक्ति भागीरथी, नवधा भक्ति, दस महाव्रत, सांस्कृतिक कहानियाँ (१२ खण्ड) प्रेरक प्रसंग, मधु-विन्दु और ज्योतिकण, पंचगीता (मानस से), मानस में पंचायती राज्य इत्यादि।

ग्रंथ संपादन एवं टीका—हनुमान चालीसा, हरि लीला, भागवत-परिचय, श्रीमद्भागवत महापुराण (संपादन, पदच्छेद, अन्वय, हिन्दी शब्दार्थ एवं टीका)

संस्थापना—'हनुमद्धाम' शुकताल, जिला - मुजफ्फरनगर की स्थापना। यहाँ ७६ फुट ७ इंच ऊँचे हनुमानजीके शरीर में ७०० करोड़ भगवान्नाम समाहित है।

हमारे प्रकाशन

आञ्जनेयकी आत्मकथा

श्रीसुदर्शन सिंह 'चक्र' लिखित **'आञ्जनेयकी आत्मकथा'** बहुत ही प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय ग्रन्थ है। भक्त पाठक इसका अध्ययन आध्यात्मिक उन्नति के लिए भी करते हैं। श्रीहनुमानजी का इतना शोधपरक चरित्र और नहीं लिखा गया है। इस ग्रन्थमें श्रीहनुमानजी से सम्बद्ध अनुष्ठान, स्तुति-महामंत्र, लांगूलोपनिषत्, अनुष्ठान-विधि सहित, श्रीहनुमान-चालीसा, श्रीसंकटमोचनाष्टक, श्रीबजरंगबाण एवं आरती भी संलग्न है। रंगीन आकर्षक कवर, आकार - २२ से.मी. × १३.५ से.मी. **पृष्ठ सं० - २६८, मूल्य - रु० ३५/-**

राधा-कृष्ण भक्त-कोश

प्राचीन एवं अर्वाचीन राधा-कृष्ण भक्तोंका विशाल परिचय-कोश प्रथम बार हिन्दीमें प्रकाशित हुआ है। इसमें कुल ४५३० पृष्ठ, भक्तोंके या भक्तोंसे सम्बद्ध ४३१ चित्र एवं राधा-कृष्णकी भक्तिसे सम्बद्ध ५० शोधपूर्ण निबन्ध हैं। इसमें भारतके विभिन्न क्षेत्रोंके लगभग १०० विद्वानोंने मिलकर लेखनमें सहयोग दिया है। इसमें भक्तोंके प्रामाणिक जीवनवृत्तके साथ उनकी यथोपलब्ध साधना-पद्धतिका भी परिचय दिया गया है। भक्तोंकी रचनाओंका उदाहरणके रूपमें कुछ अंश दिये गये हैं। हिन्दीतर प्रदेशोंके भक्तोंकी रचना उनकी मूलभाषामें किन्तु नागरी लिपिके साथ हिन्दी अनुवाद भी है। यह ग्रन्थ कुल पाँच खण्डोंमें है—**प्रथम खण्ड** में असम, उड़ीसा, उर्दू, कर्नाटक, कश्मीर एवं गुजरातके भक्त; **द्वितीय खण्ड** में तमिल, तेलुगु, नेपाल, पंजाब एवं बंगालके भक्त; **तृतीय खण्ड** में मणिपुर, मलयालम, महाराष्ट्र, मिथिला, संस्कृत और सिंधके भक्त, **चतुर्थ एवं पंचम खण्ड** हिन्दी भाषी-क्षेत्रोंके भक्तोंका परिचय एवं उनसे सम्बद्ध निबन्ध हैं। सम्पादक- **डॉ० भगवती प्रसाद सिंह** (भू. पू. विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी, गोरखपुर विश्वविद्यालय) **आकार** - २५ सेमी. × १९ सेमी., पूरे रैक्सिनकी बंधाई (हार्ड बोर्ड) **मूल्य**- प्रत्येक खण्ड रु. ४००/- सभी खण्ड एक साथ लेनेपर २५% छूट। अग्रिम राशि बैंक ड्राफ्ट (**श्रीकृष्ण जन्मस्थान सेवा-संस्थान** के नाम मथुरा, उ. प्र. के लिए) या M.O. से भेजें।

प्रकाशक एवं वितरक

प्रकाशन-विभाग, श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान,

मथुरा-२८१००१ (उ. प्र.)

हमारे द्वारा प्रकाशित पुस्तकें

1. हमारी संस्कृति
2. शत्रुघ्न कुमार की आत्मकथा
3. आञ्जनेय की आत्मकथा
4. श्रीमद्भागवत महापुराण (मूल श्लोक 12 स्कन्ध पदच्छेद, अन्वय तथा हिन्दी शब्दार्थ) नवम स्कन्ध
5. पंचगीत (मानससे)
6. मानस मन्दाकिनी (भाग-1)
7. मानस मन्दाकिनी (भाग-2)
8. सांस्कृतिक कहानियाँ (कुल 12 भाग में) सभी भाग

अन्य साहित्य

1. श्री चैतन्य लीलामृत (डॉ0 अ0 वि0 ला0 कपूर)
2. विरहणी विष्णुप्रिया (डॉ0 अ0 वि0 ला0 कपूर)
3. स्वर बंशी के शब्द नुपुरके
4. श्री रामचरितमानस तथा श्री मद्भागवत-संरचना एवं लक्ष्यका तुलनात्मक अध्ययन-डा0 बालचंद्रिका पाठक
5. भगवल्लीका चिन्तामणि - चतुर्भुज तोषनीवाल
6. श्री मद्भागवत के स्तोत्रों के आधार शास्त्रीय अनुशीलन - श्रीरामनारायण मिश्र
7. भागवत के गीतों का शास्त्रीय अनुशीलन - श्री मिश्र
8. शिक्षाष्टक (श्री चैतन्य प्रभु की रचनाएँ)
9. श्री विष्णुप्रिया नाटक
10. साध्य-साधन (राय रामानन्द मिलन-प्रसंग)
11. प्राचीन भारत में गोमांस - एक समीक्षा
12. श्री गौरांग (काव्य) श्री अनन्त कुमार 'पाषाण'
13. योगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त - डा0 भीखनलाल आत्रेय
14. आर्या या आर्य दृष्टि-ऋषि कुमार
15. भागवत मंकरन्द
16. काला चाँद चन्द्रिका - श्री उमेश जी
17. श्री श्री चैतन्यमहाप्रभु की स्वयं भगवत्ता
18. गाँधी आख्यान माला (सात पुस्तकों का सेट)
19. श्री चैतन्य महाप्रभु की नवद्वीप लीला (हिन्दी)
20. श्री चैतन्य महाप्रभु की नीलांचल लीला (हिन्दी)
21. भागवत परिचय
22. भारतीय संस्कृति में श्री कृष्ण (भूमिका खण्ड)
23. राधा कृष्ण भक्त - कोष, (पांच खण्डों में)
24. ज्योति शिखाएँ - महात्मा रामचन्द्र वीर
25. THE RAMAYANA OF TULSIDAS
    Original text in Devanagari script with translation in to english verse by Rev. A. G. Atkins

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान सेवा-संस्थान, मथुरा

Ph. 0565-2423888, 2423714